हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ७९ वाँ ग्रन्थ

साहित्यकी उपक्रमणिका

जहाँ न हित-उपदेश शुचि, सो कैसा साहित्य ?
जो प्रकाशसे रहित तो, कौन कहे आदित्य ?

लेखक
पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री
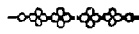
प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

अगहन, १९८९ वि०

दिसम्बर, १९३२

प्रथमावृत्ति] [मूल्य ग्यारह आने

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय

गिरगाँव—बम्बई

मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी देसाई

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई नं० ४

समर्पण

हिन्दी भाषा, हिन्दू जाति और हिन्द देशके सर्वस्व—

महर्षि पं० मदनमोहनजी मालवीय

के

पवित्र कर-कमलोंमें यह तुच्छ भेंट उनके एक अपरिचित और अकिञ्चन भक्तद्वारा असीम श्रद्धा और संकोचके साथ समर्पित है।

विनीत—

किशोरीदास वाजपेयी

भूमिका

काव्य-माधुरी जिन चखी, दस-रसमयी सुछन्द ।
तिन मन तिनकासम जँची, सुधा बापुरी मन्द ॥
जदपि दसहु रस सुठि सुघर, मधुर एकते एक ।
तदपि 'वीर' तिनकौ नृपति, जो फल देत अनेक ॥

आज हमारी भाषा राष्ट्र-भाषाके महनीय पदपर अभिषिक्त की गयी है, अतएव चारों ओरसे विविध-उपायन-सदृश अनेक विषयोंकी अभिवृद्धिसे उसकी स्पृहणीय समृद्धि प्रबल वेगसे जल्दी जल्दी बढ़ रही है। इसे देख किस मातृभाषा-भक्तका हृदय आनन्दोच्छ्वाससे भर न जायगा? इधर काव्य-कलाकी भी कला दिन दिन 'प्रतिपच्चन्द्र-लेखेव वर्द्धिष्णु' होकर जगत्‌के नयन और मन तृप्त कर रही है। कितने आनन्दकी बात है! अवश्य ही आज स्वर्गमें तुलसी, सूर और हरिश्चन्द्र आदि आत्माओंको परम सन्तोषके साथ अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती होगी और वे वर्तमान मातृभक्तोंको आशीर्वाद देते फूले न समाते होंगे जिनके अथक उद्योग और भावनासे यह सब हुआ और हो रहा है।

अस्तु: यह सब जो कुछ हो रहा है, उसे देख किसी दिव्य भविष्यकी कल्पना होती है। रोम-रोम पुलकित हो उठता है।

इधर काव्य-धारा भी बड़े वेगसे बहने लगी है, जिसके प्रखर वेगसे कहीं कहीं मर्य्यादा और सद्भावना-रूपी उसके दोनों किनारे कटते जाते हैं, किसी किसी जगह सुशृंखला-वृक्षावली उखड़ती जा रही है और उस धारमें कूड़ा-करकट न जाने क्या क्या बहता जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया सिवाय सर्वशक्ति-सम्पन्न समयके किसीके पास नहीं है। समय यह ऐसा ही है—क्रान्तिका। इसलिए लोगोंको सर्वत्र क्रान्तिमें ही भलाई

सूझती है। लोग सब पुरानी बातोंको मिटाकर उनके स्थानमें एकदम नयी देखना चाहते हैं और उसके लिए उद्योग करते हैं; फिर चाहे वे पुरानी बातें कितनी ही सुन्दर हों और नयी चाहे जैसी भी रद्दी ही क्यों न हो। इस समय अन्धकारसे एकदम प्रबल प्रकाशमें आ जानेके कारण आँखें चौंधिया-सी गयी हैं, जिनसे भला-बुरा कुछ दीख ही नहीं पड़ता। यह समयका प्रवाह किसीके बदलनेसे नहीं, अपने आप बदलेगा। तब सब व्यवस्था हो जायगी। तबतक ऐसा ही उलट-फेर होता रहेगा। बरसाके दिनोंमें जब नदीमें बाढ़ आती है, तो उसे या उसके उपद्रवको कोई रोक नहीं सकता। उस समय उसका जल भी मलिन और अपेय-सा हो जाता है, जिसे चतुर जन साफ करके उपयोगमें लाते हैं। फिर जब समय बदलता है, तो प्रवाहमें मर्य्यादा, स्वच्छता और स्थिरता आती है। हमारे काव्य-जगतका आज वर्षा काल है।

इस समय अधिकसे अधिक संख्यामें हमारे भाई काव्य-रचनाका प्रयत्न करते हैं। बड़ी खुशीकी बात है। परन्तु यह देखकर खेद होता है कि वे अपने कार्य्यमें सफलता प्रायः नहीके बराबर पाते हैं। इसका कारण क्या है? जहाँ तक सोचा गया है, इसके दो मुख्य कारण दृष्टि आये हैं—१ साहित्य-विद्यासे अपरिचय और —२ निपुण गुरुके आदेशानुसार अभ्यासका अभाव। भला, सोचिए तो सही, इन दो मुख्य कारणोंके बिना काव्य-कानन कैसे सफल हो? उस उद्यानकी क्या दशा होगी, जिसकी देख-रेख और सँभाल कोई ऐसा नवीन पुरुष करता हो, जिसे न तो बागवानीका कुछ अनुभव ही हो और न जो किसी चतुर तथा अनुभवी मालीसे उपयुक्त सम्मति ही अपने विषयमें लेता हो? जो दशा उस बागकी, वही ऐसे काव्यकी होगी—हो रही है।

बिना जाने और समझे ही लोग साहित्य-शास्त्रके अध्ययन और उस्तादकी शिक्षाको 'अनावश्यक' कह देनेमें जरा भी नहीं हिचकते। उनकी दृष्टिमें वे लोग मूर्ख और 'पुराने ठूँठ' हैं, जो इनकी निहायत

जरूरत समझते हैं। ऐसी दशामें क्या किया जाय? बुद्धिका ही तो फेर है।

इस निबन्धमें यह बतलाया गया है कि कविके लिए साहित्य-शास्त्रके अध्ययनकी कितनी जरूरत है और उसके प्रतिपाद्य विषय कितने उपयोगी तथा गम्भीर हैं। पूर्ण आशा है, इस निबन्धको पढ़कर लोग साहित्य-शास्त्रके अध्ययनकी ओर प्रवृत्त होंगे और यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी।

अपने-अपने ढंगपर प्रत्येक भाषामें साहित्य-शास्त्र है। अन्यान्य शास्त्रोंकी भाँति साहित्य भी संस्कृतमें उन्नतिके शिखरपर पहुँचा है। हिन्दी-साहित्य-शास्त्रकी उतनी प्रौढ़ रचना नहीं हुई, जितनी काव्यकी। खेद है, अभी तक इसकी पूर्ति नहीं हो पायी है। विद्वानोंने इधर कृपा-कटाक्ष ही न जाने क्यों नहीं किया। हमारी भाषामें इस शास्त्रकी तथा इसके अध्ययन-अध्यापनकी बड़ी जरूरत है। हिन्दीका संस्कृत और प्राकृतसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतमें वैसा कोई प्रौढ़ साहित्य-ग्रन्थ नहीं है। प्राकृतके अभ्युदय-कालमें लोग खूब संस्कृत जानते थे, अतएव उसीके साहित्य-ग्रन्थोंसे तृप्त रहते थे। अब वह बात नहीं है। न तो संस्कृतका ही वह उन्नति-पूर्ण प्रचार है और न वह समय ही है। हमारी भाषा भी बिलकुल स्वतन्त्र और राष्ट्रकी साम्राज्ञी बन गयी है। अब किसी भी विषयमें इसे पराधीन रहना शोभा नहीं देता। इसका साहित्य-शास्त्र भी पृथक् बनना चाहिए, जो प्राचीन शैलीके आधारपर नवीन सुधारों और परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि परिष्कारोंसे युक्त हो।

प्राचीन साहित्य-शास्त्र यद्यपि प्रायः पूर्ण है, तथापि उसमें कुछ व्यर्थ और अल्पांशमें हानिकर बातें भी हैं। हिन्दीमें साहित्य-शास्त्र बनाते समय इसपर पूर्ण ध्यान देना होगा। इन व्यर्थ और हानिकर विषयोंको छोड़कर उपादेय अंश ग्रहण करना होगा, उसमें कहीं कहीं परिवर्तन और परिवर्द्धन करना होगा, यथावश्यक नवीन विचारों और भावनाओंका पुट देना होगा, विभिन्न भाषाओंके साहित्यसे उपादेय अंश भी लेना

होगा। इस प्रकारकी शक्ति जिन मातृभाषा-भक्तोंमें हो, उन्हें आगे बढ़ना चाहिए।

जब तक साहित्य-शास्त्रके वैसे ग्रन्थ नहीं बनते, तबतक, अब तक बने हुए, पुराने साहित्य-ग्रन्थोंका ही आश्रय लेना योग्य है। जहाँ सूर्य्य अथवा चन्द्र नहीं होते, वहाँ टिमटिमाते हुए दीपकसे भी काम निकाल लेनेमें ही बुद्धिमानी है।

यह छोटीसी पुस्तिका सिर्फ साहित्य-शास्त्रके विषयोंका गौरव और गाम्भीर्य्य बतलानेके लिए है। उन विषयोंका प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है।

* * * *

अन्तमें मैं बम्बईके 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय 'के सञ्चालक और वयोवृद्ध साहित्य सेवी श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीको अनेक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने ऐसी ऐसी पुस्तकोंके प्रकाशनका असाधारण साहस दिखाया है, जिनके प्रकाशनकी भावना मात्रसे अन्य प्रकाशक भयभीत हो जाते है। कहते हैं, "ऐसी पुस्तक साहब लिखकर दीजिए, जिसकी बाजारमें खपत हो: कोई भड़कीला उपन्यास या और कुछ।" गम्भीर पुस्तकोंके प्रकाशनसे प्रकाशक लोग घबड़ाते हैं। हर्षकी बात है कि प्रेमीजी इसके अपवाद है। हिन्दीमें शायद आपकी ही ग्रन्थमाला सबसे प्राचीन है, जिसमें आज तक एक भी ग्रन्थ भरतीका नहीं निकला है।

मेरी एक पुस्तक 'प्रेमी' जीने पहले भी प्रकाशित की थी—'रस और अलंकार'। उसमें सबके सब उदाहरण राजनीतिसे सम्बन्ध रखने-वाले थे, अतएव बम्बई-गवर्नमेंटकी दृष्टि पड गयी—वह जब्त हो गयी। इस आर्थिक धक्केको सहकर फिर आपने मेरी यह दूसरी पुस्तक हाथमें ली है। इसी समय आपकी सहधर्मिणी सदाके लिए आपसे वियुक्त हो गयी। इसी आपत्तिके कारण इस पुस्तकके प्रकाशनमें और भी अधिक विलम्ब हुआ।

—लेखक

२२–११–३२

अनुक्रमणिका

साहित्यकी उपक्रमणिका

१—साहित्य-परिचय

सार्वजनीन सुस्थिर शब्दराशिका नाम साहित्य है। इसी-को वाङ्मय भी कहते हैं। यों वेद, शास्त्र, दर्शन, विज्ञान, काव्य, नाटक आदि सभी विषयोंका ग्रहण साहित्य शब्दसे होता है। इसीका समानार्थक अँग्रेजीमें लिटरेचर (Literature) शब्द है। सहित शब्दसे साहित्य बना है। यह सब विषयोंके सहित है—इसमें सब विषयोंका और सब विद्याओंका अवस्थान है, यही इसके इस नामसे निकलता है। अथवा हितसे युक्त 'सहित' और सहित ही हुआ 'साहित्य'। साहित्य सभीका हितकारी है—सबकी मदद करता है। हम कह चुके हैं कि वाङ्मयका नाम साहित्य है, अतएव इसकी ठीक ठीक उत्पत्ति और स्वरूपको जानने के लिए वाक्-स्वरूपका संक्षिप्त परिचय अत्यन्त आवश्यक है।

समस्त जगत् शब्दार्थमय है, और कुछ नहीं। शब्दकी महिमा बड़ी विचित्र है। शब्दके बिना जगत्का कुछ काम ही नहीं चल सकता। आचार्य्य दण्डीने कहा हैः—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् अन्धकारमय—व्यवहारशून्य—हो जाता, यदि शब्द नामक ज्योति न जगमगाती होती। यह बात बिलकुल ठीक है। मनुष्य ही नहीं, पशुओं और पक्षियोंको भी शब्दका ही आश्रय लेना पड़ता है। सब कोई शब्द द्वारा अपने भाव दूसरोंके प्रति प्रकट करते हैं।

मनुष्य जिन शब्दोंका व्यवहार करता है, उन्हें व्यक्त कहते हैं। पशु-पक्षियोंके शब्द अव्यक्त हैं; क्योंकि वे मनुष्योंकी समझमें नहीं आते। व्यक्त शब्दोंसे ही भाषा बनती है। ऐसे शब्दोंके समूहका ही नाम भाषा है।

किसी-किसीका मत है कि भाषाको ईश्वर ही पैदा करता है। और सभी पदार्थोंकी तरह भाषा भी उसीकी रचना है। दूसरे लोगोंका कहना है कि नहीं, भाषाको ईश्वरने नहीं बनाया। यह तो मनुष्योंकी अपनी सृष्टि है। मनुष्य ही धीरे धीरे भाषा बनाते हैं। जो भी हो, इन बातोंके विस्तारमें पड़नेकी यहां जरूरत नहीं। हमें केवल इतना जान लेना चाहिए कि भाषा भी पैदा होती है, भले ही इसका पैदा करनेवाला कोई भी क्यों न हो।

जो वस्तु पैदा होती है, वह वृद्धि-क्षतिशील हुआ करती है। भाषाकी भी यही दशा है। कोई भी भाषा अपने बाल्य-कालमें बिलकुल छोटे रूपमें होती है। उसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग छोटे-छोटे होते हैं, और बड़े कमजोर। उसके किसी

किसी अङ्गकी उस समय उत्पत्ति ही नहीं होती। ऐसे कितने ही अङ्गों और उपाङ्गोंकी उत्पत्ति या विकास उसके यौवन-कालमें होती है। इसी अवस्थामें उसके सब अङ्ग भरते और फलते-फूलते हैं। इसी समय वह सर्वथा सुसंगठित और दर्शनीय होती है। जीवित भाषाओंमें सदा परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन होते होते कभी कभी यहाँतक नौबत आ पहुचती है कि कालान्तरमें उस भाषाका पहचानना तक कठिन हो जाता है—यह नहीं कहते बनता कि यह वही भाषा है। फल यह होता है कि इस प्रकार जीवित भाषाएँ अपना एक रूप छोड़कर दूसरे रूपमें आती रहती हैं। ऐसी दशामें कभी कभी उनका पुराना नाम बदल कर नया ही कोई नाम पड़ जाता है। इसीको लोग कहते हैं कि अमुक भाषासे अमुक भाषाकी उत्पत्ति हुई है; जैसे प्राकृतसे अपभ्रंश और अपभ्रंशसे हिन्दी। इसे उत्पत्ति न कहकर विकास भी कहते हैं; अर्थात् हिन्दी प्राकृतका विकसित रूप है। मतलब यह कि प्राकृत हिन्दीके रूपमें आ गयी है। जीवित भाषाओंके रूपमें परिवर्तन सदा जारी रहता है और यदि किसी उपायसे उसे रोक दिया जाय, तो फिर वह भाषा जीवित नहीं रह सकती।

हाँ, तो जब भाषा अपने बाल्य-कालमें होती है, तो उधर किसीका ध्यान उतना आकृष्ट नहीं होता—उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर गहरी दृष्टि डालकर उनका विवेचन या विश्लेषण कोई नहीं करता। भाषाके अङ्गोंके विश्लेषणको ही व्याकरण कहते हैं। किसी भी भाषाके बाल्य-कालमें उसका व्याकरण नहीं बनता, उसके सब अङ्ग भरे-पूरे नहीं होते। सभी भाषाओंकी यही बात है। आर्य्योंकी प्राचीनतम भाषा

संसारकी सभी भाषाओंकी जननी है। सो, यह प्राचीनतम भाषा भी अपने शैशवमें प्रकृति-प्रत्यय और नाम-धातु, आदिके विचारों और विभागोंसे शून्य थी—व्याकरण-हीन थी। लिखा है:—

" वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।"

अर्थात् यह प्राचीनतम भाषा पहले अव्याकृत—प्रकृति-प्रत्यय विभागशून्य—बोली जाती थी। फिर देवताओंने इन्द्रसे कहा कि आप हमारी भाषाका व्याकरण बना दें। इन्द्रने उनकी प्रार्थना सुनकर भाषाको बीचसे तोड़-तोड़-कर—विभाग करके—इसका व्याकरण बनाया।

इस प्रकार परिपक्व और उन्नत भाषाका व्याकरण बनता है। व्याकरणमें वाक्यके भेद किये जाते हैं, जिन्हें पद कहते हैं। इन पदोंकी उत्पत्ति आदिपर विचार किया जाता है। पदोंकी विभक्तियाँ, समास और सन्धि आदि विषयोंका विवेचन भी व्याकरणमें ही होता है। व्याकरण बन जानेपर भाषाकी शोभा द्विगुणित हो जाती है।

व्याकरण बन जानेके बाद जब और भी आगे भाषाविषयक विचार-प्रवाह बढ़ता है, तो उसके वाक्य विन्यासपर लोगोंकी दृष्टि जाती है। किस शब्दको वाक्यके किस स्थानमें रखनेसे वाक्य जोरदार हो जाता है, किस समय कैसा वाक्य-प्रयोग करनेसे सुननेवालेपर असर पड़ता है, किस अवसरपर कैसा वाक्य बोलना चाहिए, वाक्यको विभूषित करनेके लिए क्या क्या आवश्यक है, कैसे पद बीचमें आ जानेसे वाक्यका प्रभाव कम हो जाता है, या वह दूषित हो जाता है, कैसे मनोभावको व्यक्त करनेके लिए किस प्रकार-

का वाक्य अपेक्षित है, इत्यादि बातोंका विचार होता है। जिस शास्त्रमें इन विषयोंपर विचार किया जाता है, उसे साहित्य-शास्त्र कहते हैं। भाषासम्बन्धी वे विचार, जिनकी स्थिति साहित्य-शास्त्रमें होती है, अविशेषरूपसे सभी वाङ्मयके सहायक और पोषक हैं, अत एव इस शास्त्रको भी साहित्य-शास्त्र कहते हैं। इस शास्त्रका कोई विशेष नाम न रखकर सामान्यतः 'साहित्य-शास्त्र' नाम रखनेका यही कारण है। व्याकरणकी भाँति साहित्य-शास्त्रकी सामान्यतः प्रत्येक विषयके विद्वानको जरूरत है, विशेषतः उसे जो कुछ 'लिखना' चाहता है। साहित्य-शास्त्रके अध्ययन और मननसे विशुद्ध और सुसंगठित वाक्य बनाना आता है। वस्तुतः व्याकरणके विना काम चल भी सकता है; पर साहित्य-शास्त्रके विना नहीं। फिर भी कहें, तो साहित्य-शास्त्रको भाषाका सूक्ष्म व्याकरण कह सकते हैं। कहनेका तात्पर्य्य यह कि प्रत्येक विषयके विद्यार्थी या विद्वानको साहित्य-शास्त्रके ज्ञानकी जरूरत है। इसके विना ठीक-ठीक वाक्य-प्रयोग ही सम्भव नहीं; बोलना ही न आयेगा—वह बोलना, जिसे बोलना कहते हैं। यों तो कौन नहीं बोलता? पर जिसे ठीक ठीक बोलना न आया, वह भी कोई मनुष्य है? साधु भर्तृहरिने कहा हैः—

" साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः

साक्षात् पशुः पुच्छविषाण-हीनः। "

साहित्य-शास्त्र जो सुन्दर, सरस, सुसंगठित, आदर्श वाक्य उपस्थित करता है, उसे ही 'काव्य' कहते हैं। साहित्य शास्त्रके नियमोंका पालन करते हुए जो वाक्य-प्रयोग किये जाते हैं, वे सब 'काव्य' कहलाते हैं। अतएव

काव्योंका अध्ययन भी भाषाका सौष्ठव सम्पादन करनेके लिए अत्यधिक आवश्यक है। साहित्य शास्त्रमें वाक्य-प्रयोगके दिये हुए नियम विविध काव्योंमें लक्षित होते हैं। इस प्रकार काव्य और साहित्य-शास्त्रका लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध है और साहित्य-जगत्‌के किसी भी भागमें इनकी आवश्यकता न हो, यह नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि काव्य और साहित्य-शास्त्र, इन दोनोंको ही 'साहित्य' इस व्यापक नामसे अभिहित करते हैं। वस्तुतः बात भी ठीक है। ये दोनों, काव्य और साहित्य-शास्त्र, समस्त साहित्यके उपयोगी हैं। समस्त साहित्यका यह शास्त्र है, अतएव वस्तुतः 'साहित्य-शास्त्र' है। शास्त्र-विशेषका नाम पड़ जानेपर भी 'साहित्य' शब्दके अर्थमें कुछ भी संकोच नहीं हुआ है। इस शास्त्रका वाचक होते हुए भी यह शब्द अपने उसी व्यापक अर्थका बोधक उक्त रीतिसे है।

यहाँतक संक्षेपमें साहित्य-शास्त्रका परिचय दिया गया। अब देखना यह है कि इस शास्त्रका निर्माण किसने और कब किया। यों तो सभी विद्याओंका सूक्ष्म रूपसे वेदोंमें अस्तित्व है और वेद ही सबसे प्राचीन रचना है। परन्तु, स्वतन्त्र रूपसे साहित्यशास्त्रीय विषयोंका विवेचन अग्नि-पुराणमें मिलता है। साहित्य-शास्त्रसे अति निकटका सम्बन्ध रखनेवाला नाट्य-शास्त्र है। अब जो नाट्यशास्त्र उपलब्ध हैं, उनमें सबसे पुराना भरत मुनिका नाट्यशास्त्र है। ये भरत मुनि महाराज नहुषके राजत्वकालमें विद्यमान थे और उन्हींके लिए आपने इस शास्त्रकी रचना की थी। यह बात इसीमें लिखी है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि अग्नि-पुराणसे पहले साहित्यशास्त्र तथा उससे सम्बद्ध नाट्य-

शास्त्र आदिकी रचना किसीने की ही न थी। अग्निपुराणमें जिस संगठित और परिमार्जित रूपसे साहित्यिक विषयोंका वर्णन है, उसे देखते यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि उसके बहुत पहले यह विषय शास्त्रका रूप पा गया होगा— इस विषयके कितने ही ग्रन्थ बन चुके होंगे। भरत मुनिने तो स्वाति, पुष्कर, कोहल, वत्स, शाण्डिल्य, धूर्तिल आदि कितने ही प्राचीन नाट्याचार्योंके नाम अपने नाट्यशास्त्रमें दिये हैं। परन्तु, खेद है कि इनमेंसे किसीका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है! कालकी महिमा!

साहित्यशास्त्रकी रचना भारतमें अति प्राचीन-कालमें की गयी थी। उसके अवान्तर भेद या विषय, नाट्य आदिपर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ बन चुके थे, और उन्हें पृथक् शास्त्रका रूप मिल चुका था। बादमें इस शास्त्रकी खूब उन्नति हुई और इसपर इतना विचार हुआ कि आगेके लिए गुंजाइश ही न रही—हद कर दी गयी। संस्कृत भाषामें साहित्य–शास्त्रका पूर्ण विकास हुआ है। हमारी राष्ट्र–भाषा हिन्दीमें भी साहित्य–ग्रन्थ बनाये गये; पर वह बात न आयी! अबतक यही बात है। हिन्दीमें काव्य-रचना खूब हुई है। व्रजभाषाके वैष्णव और शृंगारी कवि वस्तुतः अपने अपने क्षेत्रमें कलम तोड़कर बैठे हैं। हिन्दीकी पुरानी कविता किसी भी भाषाकी श्रेष्ठसे श्रेष्ठसे कवितासे मुकाबला कर सकती है। परन्तु, साहित्यशास्त्रके बनानेमें वे असफल रहे। यदि इस विषयपर किसीने कलम उठाई भी, तो नायिका-भेद या अलंकार–निरूपण तक ही। तात्पर्य यह कि व्रजभाषाके कवि लक्ष्य (काव्य) के निर्माणमें पूर्ण सफल और लक्षण (साहित्य–शास्त्र) की कृतिमें अकृतकार्य्य रहे हैं।

२—काव्यका स्वरूप

पिछले प्रकरणमें हम कह चुके हैं कि सुन्दर और सुडौल वाक्य ही काव्य है, जिसे साहित्यशास्त्रने आदर्श ठहराया है। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि उस वाक्यको काव्य कहते हैं, जिसमें शब्दगत किंवा अर्थगत कोई असाधारण चित्ताकर्षक सौन्दर्य्य हो।

काव्य या काव्य-निर्माण भी एक कला है। इस लिए काव्य-का स्वरूप जाननेके लिए और यह देखनेके लिए कि अन्यान्य कलाओंमें काव्यका क्या स्थान है, सामान्यतः कलाका स्वरूप जान लेना चाहिए।

हम उस कौशलको कला कहते हैं, जिसके द्वारा किसी प्राकृतिक पदार्थमें अद्भुत चित्ताकर्षक रमणीयता पैदा कर दी जाती है। काव्य भी इस लक्षणके अनुसार एक कला है। शब्द एक प्राकृतिक पदार्थ है। सभी इसका सामान्यतः उप-योग करते हैं। इन्हीं शब्दोंको जब कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी विशेष ढँगसे रखकर चमत्कार पैदा कर देता है, तो वे शब्द काव्य कहलाने लगते हैं। सोना एक प्राकृतिक धातु है। एक सोनार उसे गलाकर जब कोई अति मनोमोहक आभूषण तयार कर देता है, तो वह कलाकोटिमें आ जाता है। हाँ, यदि कोई सोनार सोनेको गलाकर कोई आभूषण रद्दी सा बना दे, तो वह कलाकी कोटिमें न आ सकेगा। कलाका प्राण है—सौन्दर्य्य। किसी प्राकृतिक पदार्थमें मनुष्य अपने जिस कौशलद्वारा अद्भुत सौन्दर्य्य ला देता है, वह-कौशल ही कला है। अपने रहनेके लिए कोई जैसा-तैसा टेढ़ा-मेढ़ा मकान बना लेता है और उसमें आनन्दसे

रहता है। उसका यह मकान उसके लिए उपयोगी और इसी लिए आनन्दप्रद है। परन्तु, इसकी गणना कलामें न हो सकेगी। कलामें विशेष सौन्दर्य्य अपेक्षित है। हाँ, यदि कोई एक फूसकी झोपड़ी ही बनाता है, परन्तु अपनी असाधारण प्रतिभाके द्वारा वह उसमें कुछ ऐसा अद्भुत चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य्य पैदा कर देता है, जिससे देखनेवालोंके नेत्र प्रसन्न और हृदय विकसित हो जाता है, तो अवश्य वह झोपड़ी कलाका उदाहरण होगी और उसके बनानेवालेका वह कौशल कला कहलायेगा।

कलाके भेद

सब कलाओंको मुख्य दो श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते है—उपयोगी कला और निरुपयोगी या सामान्य कला। भवन-निर्माण आदिकी कला उपयोगी है और स्वर्णकारी आदि निरुपयोगी या सामान्य। सौन्दर्य इन दोनों प्रकारकी कलाओंमें रहेगा। सौन्दर्यके विना तो उसका अस्तित्व ही नहीं है। भेद इतना ही है कि उपयोगी कला मनोरञ्जक होते हुए हमारे जीवनके किसी न किसी भागमें उपयोगी भी होती है और सामान्य कला केवल मनोरंजक। इन दोनों प्रकारकी कलाओंमें कौनसी श्रेष्ठ है, इसका निर्णय करना कुछ कठिन नहीं है। संसारमें दो ही कारण किसी भी वस्तुकी उपादेयता या श्रेष्ठताके हैं—१-उपयोग और २-सौन्दर्य्य। जिस वस्तुमें इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं, उसे कोई पूछनेका नहीं। इनमें भी प्रेक्षावान् जन सौन्दर्यकी अपेक्षा उपयोगका अधिक आदर करते हैं। परन्तु, यह कलाका विषय है। सौन्दर्य्यकी ही यहाँ प्रधानता है। और, सौन्दर्य प्रत्येक कलामें रहता है। ऐसी दशामें एक स्वरसे

सभी लोग इस बातको स्वीकार करेंगे कि सामान्य या निरुपयोगी कलाकी अपेक्षा उपयोगी कलाका दर्जा अधिक ऊँचा है; क्योंकि उसमें उपादेयताके वे दोनों कारण विद्यमान हैं। इस दशामें यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि निरुपयोगी किंवा सामान्य कलासे उपयोगी कला श्रेष्ठ है।

काव्य-कलाकी सर्वोत्तमता

अब हमें यह देखना है कि अन्यान्य कलाओंमें काव्य कलाका क्या स्थान है। हम कह चुके हैं कि काव्य एक प्रकारका वाक्य होता है। वाक्य शब्दोंका बनता है। शब्दोंका प्रयोग निरर्थक नहीं किया जाता है। उससे विश्वको भाँति-भाँतिकी शिक्षा मिलती है। सत्काव्य जीवनको आनन्दमय बना देता है। जीवनकी भिन्न भिन्न दशाओंमें काव्यद्वारा प्राप्त उपदेशोंसे लाभ होता है। काव्य, इसी लिए, एक उपयोगी कला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि काव्य-कला उन सामान्य कलाओंसे श्रेष्ठ है, जिनसे जीवनके किसी भागमें कुछ लाभ नहीं पहुँचता, जो केवल मनोरंजन भर करनेके लिए है। अब प्रश्न यह है कि अच्छा, हमने माना कि काव्य-कला उपयोगी अतएव सामान्य स्वर्णकारी आदि कलाओंसे श्रेष्ठ है: परन्तु, अन्य भवन-निर्माण आदि उपयोगी कलाओंमें उसका क्या स्थान है?

देखिए, भवन-निर्माण और तक्षण आदि जितनी भी उपयोगी कलाएँ हैं, उन सबका उपयोग बाह्य जीवनके किसी एक ही अंशमें होता है। हमारे बाह्य जीवनसे आन्तर जीवन अधिक महत्त्वका है, और वहाँतक काव्यके अतिरिक्त और किसी भी कलाकी पहुँच नहीं। काव्य मनुष्यमें वे दैवी गुण ला देता है और आनन्दपूर्वक ला देता है, जो और किसी

भी कलाके लिए सर्वथा अप्राप्य है। लोक-व्यवहार और सभ्यताकी शिक्षा काव्यके द्वारा मिलती है। आचार्य्य मम्मटने लिखा है:—

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये.................... ॥ "

अर्थात् काव्यके अध्ययन और निर्माणसे यश फैलता है, अर्थ-प्राप्ति होती है, लोक-व्यवहार आता है, अमंगल दूर होते हैं; और सबसे जल्दी तुरन्त जो महनीय फल मिलता है, वह यह है कि लोकोत्तर आनन्दकी उपलब्धि होती है। व्यवहार-ज्ञान और आनन्दोपलब्धि इनमेंसे मुख्य हैं।

जीवनके आन्तर व्यापारमें केवल काव्य-कला ही उपयोगी है, अतएव वह अन्य सब कलाओंमें श्रेष्ठ है, यह तो निश्चित ही है। किन्तु, परोक्षरूपसे यह जीवनके बाह्य भागमें भी अत्यधिक लाभप्रद है। काव्यसे अनेक कलाओं और विद्याओंका सैद्धान्तिक ज्ञान भी होता है। कहा है:—

" न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः। "

अर्थात् ऐसा शब्द, अर्थ, दर्शन या कोई भी कला है ही नहीं, जो काव्याङ्ग न हो। आह! कविके ऊपर कितना भार है!

कहनेका मतलब यही कि जीवनके आन्तरमें प्रत्यक्ष और बाह्यमें परोक्ष रीतिसे काव्य अत्यधिक उपयोगी होनेके कारण अन्य सब कलाओंसे श्रेष्ठ है।

यह तो हुई उपयोगकी दृष्टिसे काव्यकी श्रेष्ठता। अब सौन्दर्य्यकी दृष्टिसे भी देखना चाहिए कि किस कलाका

आसन सबसे ऊँचा है। इस दिशामें यह निश्चय है कि मनोभावोंपर प्रभाव डालना कलाका कलात्व है। जो कला जितना अधिक मनोभावोंको उद्वेलित करती है, वह उतनी ही श्रेष्ठ है। ध्यान देकर देखिए कि काव्यके द्वारा जो उत्तेजना मनोभावोंको मिलती है, क्या वह और किसी कला-द्वारा सम्भावित है? यही कारण है कि शब्दमय काव्यको सब कलाओंमें सर्वथा ऊँचा स्थान प्राप्त है।

एक दूसरे प्रकारसे कलाओंका वर्गीकरण

हिन्दीके सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू श्रीश्यामसुन्दरदासजीने अपने 'साहित्यालोचन' में दूसरे ही ढंगसे कलाओंका वर्गीकरण किया है। आपका कथन यह है कि जिस कलाका आधार जितना ही सूक्ष्म है, वह उतनी ही उत्तम है और काव्य-कलाका आधार अति सूक्ष्म—शब्द—है, अतएव यह सबसे उत्तम है। बाबू साहबकी दोनों बातें ठीक नहीं हैं। न तो आधारोंकी सूक्ष्मता कला परखनेकी पक्की कसौटी ही है, और न उसके अनुसार काव्य-कला सर्वश्रेष्ठ उपपन्न ही हो सकती है। कलाके उत्कर्ष-परीक्षणके लिए आधारोंकी सूक्ष्मताका तारतम्य कोई महत्त्व नहीं रखता—यह कोई कसौटी नहीं है। अति स्थूल आधार होनेपर भी कोई कला अति श्रेष्ठ हो सकती है, इसका निषेध कोई कैसे कर सकता है? और यदि कोई इससे ठीक उलटा ही कहने लगे कि जिस कलाका आधार जितना ही महान् होगा, वह उतनी ही अधिक महनीय होगी, तो फिर उसे क्या कहकर मना किया जा सकेगा? कलाका प्राण सौन्दर्य्य है, आधारोंकी सूक्ष्मता और स्थूलता नहीं; अतएव जिस कलामें जितना अधिक सौन्दर्य्य होगा और जितना अधिक तथा स्पष्ट मनोभावोंपर प्रभाव

डालनेकी शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ समझी जायगी। कलाके तारतम्य-परीक्षणमें दूसरी कसौटी उपयोगिता है। सौन्दर्य्यके साथ उपयोगिता भी आ जानेसे सोनेमें सुगन्ध मिल जाती है। इस लिए, जिस कलामें सबसे अधिक सौन्दर्य्य, मनोभावोंपर स्पष्ट और अत्यधिक प्रभाव डालनेकी शक्ति तथा उपयोगिता होगी, वही सबसे बढ़कर समझी जायगी। संसारमें किसी भी वस्तुका आदर उसकी उपयोगिता और सुन्दरताके कारण होता है, उसके आधारकी सूक्ष्मताके कारण नहीं। जब सब जगह यह बात है, तब कोई कारण नहीं दिखाई देता कि कला-परीक्षणमें भी यही न्याय क्यों न लागू हो। हमारी समझमें नहीं आता कि कलाके उत्कर्ष-परीक्षणके लिए उसके आधारकी सूक्ष्मताको क्योंकर कसौटी मान लिया गया।

बाबूजीने अपनी कसौटीपर काव्य-कलाको कसकर सर्वश्रेष्ठ कला बतलाया है—सङ्गीतकलासे भी बढ़कर; परन्तु समझमें नहीं आता कि जब काव्य और संगीत, दोनोंका आधार शब्द ही है, तो फिर उनमेंसे एक बढ़िया और दूसरा घटिया क्यों हो गया? किसी कारणके बिना ही तो 'को बड़ छोट कहत अपराधू' है! प्रत्युत बाबूजीकी कसौटीके अनुसार संगीत-कला ही सबसे उत्तम ठहरती है; क्योंकि उसीका आधार सबसे सूक्ष्म है। काव्यका आधार शब्द है और संगीतका आधार शब्दोंका आरोहावरोह है। शब्दोंकी अपेक्षा उनकी गतिविशेष अर्थात् आरोहावरोह अधिक सूक्ष्म है, इसमें किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है? सो, इस प्रकार न तो बाबू साहबकी वह कसौटी ही ठीक है, और न उसके अनुसार काव्यको सर्वोत्तम कला बतलाना ही। दोनों बातें अप्रमाण और युक्तिविरुद्ध हैं।

अवश्य ही काव्य सब कलाओंसे श्रेष्ठ है; किन्तु हमने जो कसौटी लिखी है, उसके अनुसार। और वही कसौटी सच्ची भी है। उसे कोई झूठी नहीं कह सकता।

यहीं एक बात और। बाबू साहबने कलाओंको दो भागोंमें बाँटा है—१-ललित कला और २-उपयोगी कला। आपने काव्यादिकी ललित कलामें और स्वर्णकारी आदिकी उपयोगी कलामें गिनती की है। सो, ये दोनों बातें भी आपकी वैसी ही हैं। कलाओंके 'ललित' और 'उपयोगी' नामके दो भेद नहीं कहे जा सकते; क्योंकि कलाएँ तो सभी ललित ही होती हैं। उपयोगी कलाओंमें भी लालित्य होता है। जिसमें कुछ लालित्य नहीं, उसे कला ही कौन कहेगा? लालित्य (सौन्दर्य) ही तो कलात्व है। 'ललित' और 'उपयोगी' ये दो भेद कलाओंके करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपयोगी कलाओंमें लालित्य नहीं होता। यदि यह बात है, तो फिर वे कलाएँ कहला ही नहीं सकतीं। वस्तुतः इनके 'ललित' और 'उपयोगी' नहीं, 'सामान्य' और 'उपयोगी' नामके दो भेद होने चाहिएँ; जैसा कि हमने लिखा है।

बाबू साहबने काव्यको उपयोगी कलामें न रखकर निरुपयोगी कहकर उसका घोर अपमान किया है और अन्याय भी। भला, कौन विचारशील कह सकता है कि काव्य उपयोगी कला नहीं है? जीवनके आन्तर और बाह्य दोनों भागोंमें जो सबसे अधिक उपयोगी है, उसे उपयोगी कलाओंमें न रखना कितना बड़ा अपराध है?

इसीके साथ एक और मजेकी बात देखिए। स्वर्णकारीकी गिनती आपने उपयोगी कलाओंमें की है! न जाने क्या

समझकर ! सोने-चाँदीके वे आभूषण केवल मनको प्रसन्न करनेवाले होते हैं और उनसे कुछ काम नहीं निकलता— जीवनके किसी भी पहलूमें किसी प्रकार भी इस कलाका उपयोग नहीं; तब कैसे इस कलाको उपयोगी कहा जा सकता है ? हाँ, लुहार और बढ़ई आदिकी कलाएँ अवश्य उपयोगी हैं। सो, इस प्रकार बाबू साहबका यह वर्गीकरण और उसके अनुसार काव्यको निरुपयोगी तथा स्वर्णकारीको उपयोगी कला बतलाना बिलकुल असंगत और तर्कहीन है।

कलाओंका जो वर्गीकरण ठीक है, हम पहले लिख चुके हैं।

काव्य कलाका उद्देश्य

काव्यका आधार शब्द है। कोई भी अनुन्मत्त पुरुष किसी उद्देश्यसे शब्दका उच्चारण करता है। काव्य भी एक प्रकारका शब्द ही है, अतएव उसका भी कुछ न कुछ उद्देश्य होना ही चाहिए। अपने मनोभाव अभिव्यक्त करनेके लिए शब्दोंका उच्चारण किया जाता है। काव्यकी भी यही बात है। अपने अनुभव दूसरोंको बतलानेके लिए काव्य-सृजन होता है। यही कारण है कि विविध सत्काव्योंके द्वारा अनेक प्रकारकी शिक्षा लोगोंको मिलती है, पर आस्वादके साथ। अन्य शास्त्रोंसे नीरस शुष्क शिक्षा मिलती है; पर काव्य उसी शिक्षाको मीठे ढँगसे देता है। आचार्य्य मम्मटने काव्यको "कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" बतलाया है; अर्थात् काव्यके द्वारा इस प्रकार आनन्दपूर्वक शिक्षा मिलती है, जैसे कान्ता कोई अच्छी बात मन्द मुसकानसे कहती है, जिसके सुननेसे आनन्द भी आता है, तबीयत खुश भी हो जाती है और अच्छी बात हाथ लगती है। काव्यका यह एक ऐसा गुण है,

जो अन्य कलाओंमें नहीं है और जिसने इसे सर्वोच्च स्थान दिलाया है। हाँ, कुछ ऐसे भी काव्य हैं, जो प्रत्यक्षमें कुछ शिक्षा नहीं देते, जैसे जल-प्रपात, बन-पर्वत और पशु-पक्षियों आदिका वर्णन; किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा कि ऐसे काव्योंके द्वारा भी व्यवहार-शिक्षा नहीं, तो लौकिक परिज्ञान अवश्य ही बढ़ता है। इस दृष्टिसे इनका उपयोग कुछ कम नहीं है। सारांश यह कि काव्य सर्वथा उपयोगी कला है। इसका उद्देश्य है, जनताको विविध उपदेश, व्यवहार तथा वस्तुस्थिति आदिका ज्ञान, मिठासके साथ, समर्पित करना। बस, अपने इसी सदुद्देश्यके कारण इसका आसन सब कलाओंके सिरपर है।

आज कल एक विचित्र आवाज सुनाई पड़ रही है। लोग कहते हैं, काव्यका कोई उद्देश्य नहीं है। काव्य एक कला है। कला कलाके ही लिये होती है और किसी लिये नहीं। उपदेश देने बैठना उसका उद्देश्य नहीं। वह कोई धर्मशास्त्र नहीं है। कवि किसीको उपदेश देने नहीं बैठता। वह तो अपने उल्लासमें आकर कुछ कह चलता है, बस, वही काव्य है, और कुछ नहीं।

यह कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। हम पहले कह चुके हैं कि शब्द-प्रयोग किसी न किसी उद्देश्यसे ही होता है; अपने मनोभाव प्रकट करनेके लिए या दूसरोंको कुछ सिखानेके लिए। शब्दकी निरुद्देश्य प्रवृत्ति उन्मत्तोंमें ही देखी-सुनी गयी है, अन्यत्र नहीं। कवि कोई उन्मत्त पुरुष नहीं होता, जो निरुद्देश्य शब्द-प्रयोग करे। वह लोकगुरु होता है और विशेष सावधान होकर अपने कर्तव्यका पालन करता है। इसी लिए कविको 'हर-फन-मौला' होना

आवश्यक है। वह अपने काव्यमें यथावसर प्रत्येक विद्याका प्रदर्शन करता है। इसी लिए कविको बहुज्ञ होना आवश्यक है; क्योंकि:—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः!"

ऐसी दशामें कौन कह सकता है कि कविकी प्रवृत्ति निरुद्देश्य है और काव्य-कलाका कोई उद्देश्य नहीं। काव्यातिरिक्त कलाओंके लिए चाहे जो कहा जाय, पर काव्य-कला निरुद्देश्य नहीं है और यदि कोई निरुद्देश होकर कविता करेगा भी, तो उसमें वह बात न आयेगी। उद्देश्य ही तो सब कुछ है। निरुद्देश्य कविता हो नहीं सकती और यदि हो, तो वह सर्वोत्तम कविता न कही जा सकेगी। सर्वोत्तम मिठाई वही है, जो खानेमें सुधोपम हो और स्वास्थ्यके लिए सञ्जीवन-शक्ति-सम्पन्न। इससे भिन्न, जो मिठाई खानेमें तो अच्छी लगती है; किन्तु जिसका प्रभाव स्वास्थ्यपर बिलकुल सामान्य है, तो वह मामूली है। उसे कोई चतुर जन बढ़िया मिठाई कभी न कहेगा। इन दोनों प्रकारकी कविताओंसे भिन्न एक वह 'थर्ड क्लास' कविता है, जो यों तो आनन्दप्रद हो, किन्तु जिसका प्रभाव मनपर बहुत बुरा पड़ता हो। ऐसी ही कविताओंको लक्ष्य करके कहा गया है:—"काव्यालापांश्च वर्जयेत्।" उस सुस्वादु मिठाईसे कौन प्रज्ञावान् खुश होगा, जो स्वादमें बहुत बढ़िया होकर भी स्वास्थ्यके लिए विष हो, या जिसमें जान-बूझकर विष-मिश्रण किया गया हो? ऐसे निकृष्ट काव्योंसे सामान्य जनताको सदा सचेष्ट रहना चाहिए।

हमने यहाँपर उपयोगकी दृष्टिसे काव्यके ये तीन, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद किये हैं, कलाकी दृष्टिसे नहीं। कलाकी दृष्टिसे आगे चलकर, काव्यके भेद करेंगे।

सारांश यह कि जिस काव्यसे कोई उत्तम शिक्षा या परिज्ञान मिलता है, वह उत्तम, जिससे इसकी प्राप्ति नहीं होती, वह सामान्य या मध्यम और जिससे मनका झुकाव बुरे मार्गोंकी ओर होता है, वह अधम काव्य है। कला तो इन तीनोंमें ही होगी, उस दृष्टिसे यहाँ ये विभाग नहीं हैं।

३—भाषा-कृत काव्यके भेद

पिछले प्रकरणमें उपयोग-दृष्टिसे काव्यके तीन भेद किए गये हैं। अब हम यह देखेंगे कि भाषा-भेदसे काव्य कितने प्रकारका है। एक ही भाषा सैकड़ों तरहसे लिखी जाती है। कोई अपनी भाषामें दीर्घ-समासोंका प्राचुर्य्य करता है, तो कोई समास-विहीन मधुर पद बोलता और लिखता है। किसीके वाक्य-प्रयोगका ढंग कुछ है और किसीका कुछ। सो, इनको हम भाषाका भेद नहीं कह सकते। यह तो वाक्य-प्रयोगकी अपनी अपनी शैली है। शैलीका ही पुराने साहित्य-ग्रन्थोंमें ‘रीति’ नाम है। शैलीके विषयमें आगे चलकर हम विचार करेंगे। यहाँ तो भाषा-भेदसे काव्यके मुख्य-मुख्य भेद बतलायेंगे।

साधारणतः भाषा दो प्रकारसे बोली या लिखी जाती है, अपने स्वाभाविक रूपमें और संगीतमय अथवा पद्य-बद्ध। भाषाके स्वाभाविक रूपको ‘गद्य’ और संगीत-मयको

'पद्य' कहते हैं। पद्यकी रचना कुछ निर्धारित नियमोंके अनुसार होती है; परन्तु अपनी उत्पत्तिके प्रारम्भ-कालमें पद्य प्रायः नियम-बन्धनसे रहित था। जिस तरह बोलनेमें लयका अस्तित्व बना रहा, उस तरह बोला और लिखा गया। बादमें इन्हीं शिष्ट-पद्योंको देख-देखकर नियम-निर्धारित कर दिये गये, जिन्हें 'पिङ्गल' या 'छन्दःशास्त्र' कहते हैं। पद्य-रचना होनेके बाद ठीक उसी तरह छन्दःशास्त्रकी उत्पत्ति हुई, जिस तरह भाषाकी उत्पत्तिके बाद व्याकरण-शास्त्रकी। पद्य बनानेवाले कवियोंको छन्दःशास्त्रके नियम पालन करने होते हैं, उन्हींके अनुसार पद्यरचना करनी होती है। हाँ, यदि कोई आधुनिक कवि किसी नये छन्दका आविष्कार कर दे, जिसमें लय आदि विद्यमान हों, सुननेमें सुखद हो और पुराने छन्दःशास्त्रमें उसका नाम न आया हो, तो यह विशेष बात है। ऐसा कवि अवश्य अपने नये छन्दमें कविता करे। और कवियोंको वह छन्द अच्छा लगे, तो वे भी उसमें रचना करें। बादमें बननेवाले छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थोंमें अवश्य ऐसे छन्दोंका संग्रह होगा। इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्रमें वृद्धि हुआ करती है। परन्तु, यदि कोई टेढ़ा-मेढ़ा गद्य लिखकर उसे ही 'नवीन पद्य' कहता फिरे, जिसमें लय आदिका नाम न हो, तो यह उसकी केवल हठधर्मिता है। ऐसे गद्य-को पद्य नहीं कहा जा सकता। कोई-कोई नवीन कवि आज कल ऐसे ही पद्य बनानेमें अपनी 'इति कर्तव्यता' समझते हैं! लोगोंने इन विलक्षण छन्दोंके नाम भी बड़े सुन्दर रखे हैं—'केंचुआ' 'रबर' आदि। हमें इसपर कुछ विशेष नहीं कहना है। इतना प्रसंगवश लिख दिया गया।

हाँ, तो भाषाके दो भेद हैं—'गद्य' और 'पद्य'। इन दोनोंमें काव्य होता है। गद्यमें जो काव्य होता है, उसे गद्य-

काव्य और पद्य-बद्धको पद्य-काव्य कहते हैं। गद्य और पद्य इन दोनों काव्योंमें कौन बढ़कर है, इसका उत्तर ठीक ठीक यही है कि जिसमें अधिक चमत्कार हो। गद्यमें यदि काव्य-चमत्कार है, तो कहना ही क्या है। पद्यके उच्चारणमें आनन्द आता है, अतएव उसमें यदि कहीं काव्यत्वका अभाव भी हो, तो खटकेगा नहीं; परन्तु इसी दशामें गद्य होनेपर तुरन्त चित्तमें खटका होगा, मन उद्विग्न होगा। कला न रहनेपर गद्यमें फिर कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता, जिससे वह सहृदय-हृदयोंको अपनी ओर खींच सके। इस लिए गद्य-काव्यके रचयिताको अधिक सचेष्ट रहना पड़ता है। यही सब सोच-समझकर लोगोंने कहा है:—

" गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति । "

गद्य–काव्य कवियोंके परखनेकी कसौटी है। जिस कविने गद्य लिखनेमें नाम पा लिया, समझ लीजिए, वह पक्का कवि हो गया। पर, इसका प्रमाण-पत्र देनेमें सहृदय-समाज ही सक्षम है। और पद्यका तो कहना ही क्या है! पद्यमें ही काव्यका सहयोग संगीतसे होता है। जब एक उत्तम कलाका सहयोग काव्यको प्राप्त हो, तो फिर उसके चमत्कारका ठिकाना ही क्या है! सोनेमें सुगन्ध!

इस प्रकार गद्य और पद्य ये दो काव्यके भेद हुए। इस विषयमें एक बात और कहनेको है। कोई कोई पद्यको ही कविता समझ बैठते हैं। उनका ऐसा समझना भ्रम-मूलक है। वस्तुतः पद्यमात्रको कविता नहीं कहते। जिस पद्यमें कुछ काव्यत्व होगा, कोई चमत्कार होगा, उसे ही काव्य कहेंगे। काव्य-चमत्कारसे शून्य पद्य कभी भी कविता कह-लानेके अधिकारी नहीं। इन्हें केवल पद्य अथवा तुकबन्दी कहा जायगा।

हिन्दीके वयोवृद्ध विद्वान् बाबू श्रीश्यामसुन्दरदासजीने अपने 'साहित्यालोचन' में सिर्फ पद्यको ही काव्य माना है, गद्यको नहीं! आपने रसात्मक वाक्यको काव्य माना है। यह साहित्य-दर्पणकार श्रीविश्वनाथ कविराजका सिद्धान्त है। काव्यका यह लक्षण कैसा है, इसका विचार हम अपने दूसरे निबन्धमें करेंगे। यहाँ सिर्फ यही देखना है कि बाबू साहबने जो काव्यका लक्षण किया है, उसके अनुसार गद्य काव्य है, या नहीं। बाबू साहबने रसात्मक वाक्यको काव्य माना है। तो क्या मैं उनसे यह न पूछूँ कि गद्यमें भी वाक्य बन सकता है, या नहीं? और वह गद्यमय वाक्य रसमय हो सकता है कि नहीं? यदि हाँ, तो फिर कारण क्या कि वह गद्य-वाक्य काव्य न हो सके? 'नहीं' में तो उत्तर हो ही नहीं सकता। कौन कहेगा कि गद्यमें वाक्य नहीं होता? यदि कहा जाय कि गद्य-वाक्य रसमय नहीं हो सकता, तो भी बिलकुल उपहसनीय और बाल-भाषणमात्र है। पद्यकी अपेक्षा गद्यमें ही रस-परिपाक अच्छी तरह होता है। इसके प्रमाणके लिए किसी अच्छे नाटकके गद्य और पद्य भागोंको तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़िए; पता लग जायगा। बाणकी 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' और दण्डीके 'दशकुमार-चरित' को कौन काव्य न कहेगा? काव्यकी कौनसी ऐसी बात है, जो इन गद्य-काव्योंमें नहीं है? वस्तुतः बाबू साहबका यह भ्रम है। आपने एक बड़े मजेकी बात लिखी है। कहते हैं कि "जिस गद्यमें काव्यके गुण विद्यमान हों, उसे काव्यमय गद्य कहेंगे, काव्य नहीं!" क्या खूब! भाई, जब कि गद्यमें काव्यके गुण मौजूद हों, तो उसे काव्य क्यों न कहेंगे? उसे गद्य-काव्य न कहकर क्यों काव्यमय गद्य कहेंगे? कारण क्या है? गद्य भाषा नहीं है,

या उसमें वाक्य नहीं बनते, जो काव्य-शरीर है? जिस गद्यमें काव्य-गुण मौजूद हों, कुछ वैसा चमत्कार हो, उसे हम गद्य-काव्य कहेंगे, काव्यमय गद्य नहीं।

मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितेन्द्र जगन्नाथ आदि सभी आचार्योंने काव्यके दो भेद, गद्य और पद्य, किये हैं। वही ठीक है और बुद्धिसंगत है। बाबू साहबने तो मनगढ़न्त कह डाला है और अपने कथनमें कुछ भी प्रमाण नहीं दिया। मालूम यह होता है कि सामान्य जनतामें प्रचलित व्यवहारके अनुसार बाबू साहबने पहले तो पद्यको ही कविता समझ लिया होगा, फिर आपने साहित्य-दर्पणमें काव्यका यह लक्षण देखा होगा। काव्यका लक्षण देखकर भी आपकी पुरानी धारणा न बदली होगी। इसी लिए काव्यका वह लक्षण लिखकर भी गद्यको काव्य माननेसे आपने इनकार किया। वस्तुतः आपने जो लक्षण काव्यका किया है, उसके अनुसार तो गद्य और पद्य दोनों ही काव्य ठहरते हैं। परन्तु, आपने गद्यको काव्य न माननेके समय, अपने काव्य-लक्षणको भुला दिया! इसे ही 'वदतो व्याघात' दोष कहते हैं।

४—कला-दृष्टिसे काव्यके भेद

कलाकी दृष्टिसे भी काव्यके उत्तम, मध्यम और सामान्य ये तीन भेद हैं। हम कह चुके हैं कि वही सर्वोत्तम कला है, जिसके द्वारा मनोभावोंका स्पष्ट और चित्ताकर्षक अभिव्यञ्जन होता हो। काव्यके विषयमें भी यही बात है। जिस काव्यमें किसी मनोभावकी सुन्दर अभिव्यक्ति नहीं है, उसे उत्तम काव्य

नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ काव्य वही है जिसमें किसी रस अथवा सञ्चारी भावोंमेंसे किसी एक किंवा अनेककी अभिव्यक्ति हो। रस और भाव आदि सब मनोभावोंके ही रूप हैं। इनका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे।

दूसरे दर्जेका काव्य वह है, जिसमें अर्थगत कुछ विशिष्ट चमत्कार हो। अर्थात् जहाँ विशेष तौर पर अर्थ अलंकृत किया गया हो—जहाँ कोई अर्थालंकार ही प्रधान हो। ऐसे काव्यका नाम प्राचीन आचार्य्योंने 'अर्थ-चित्र' रखा है। अर्थ-चित्र काव्य उसे कहते हैं, जहाँ अर्थमें विचित्रता हो।

इन दोनों प्रकारके काव्योंके अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी भी काव्यकी है, जो सबसे नीचे है। काव्यकी इस श्रेणीका नाम 'शब्द-चित्र' है। जहाँ किसी मनोभावकी अभिव्यक्ति प्रधान रूपसे न हो और न कोई अर्थगत चमत्कार-विशेष ही हो, केवल शब्दोंकी ही बनावट सजावट हो, तो ऐसे काव्यको हम तीसरे दर्जेका काव्य कहते हैं—शब्द-चित्र।

कवि अथवा सहृदयकी प्रथम प्रवृत्ति शब्दमें ही होती है, फिर अर्थमें और तब मनोभावोंमें। पहले-पहले जब कोई कवि रचनामें प्रवृत्त होता है, तो वह शब्दोंके बनाव-शृंगारमें ही अधिक ध्यान देता है, उन्हें ही सजाता-सिंगारता रहता है। उसे अपने काव्यमें विविध अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारोंके लानेकी ही चिन्ता बनी रहती है। वह अपने काव्यमें ऐसे शब्द चुन चुनकर लाता है, जो एकदम नृत्य सा करते जान पड़ते हैं। इसे ही बाल-रुचि कहते हैं। शब्दोंकी मनोहरतापर ध्यान पहले जाना लोक-सिद्ध है। किन्तु, शब्द काव्यका स्थूल शरीर है। इसीपर सदा नजर रखना और उसके सूक्ष्म शरीर तथा मनोभावोंकी ओर ध्यान न देना कविके प्रथम प्रयासका सूचक है। ऐसे काव्योंकी

सामान्य काव्योंमें क्यों गणना है, इस बातका उत्तर हम जरा अच्छी तरह देना चाहते हैं।

बात यह है कि शब्द और अर्थ काव्यके शरीर-स्थानीय हैं और रस आदि उसके मनोभाव हैं। चमत्कार काव्यकी आत्मा है। सौन्दर्य्य-विशेषका ही नाम चमत्कार है। हम कह चुके हैं कि सौन्दर्य्य न केवल काव्यकी ही, किन्तु कला मात्रकी आत्मा है, सर्वस्व है। जहाँ सौन्दर्य्य नहीं, वहाँ कला शब्दका व्यवहार हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त, वाक्य-प्रयोगकी शैली काव्य-शरीरकी गठन है और माधुर्य्य आदि गुण हैं। शैलीको ही प्राचीन आचार्य्योंने रीतिके नामसे पुकारा है। शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं, यही मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य्योंने कहा है। इनमेंसे शब्द स्थूल शरीर और अर्थ सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके आश्रित रहता है। यहाँ शब्द भी अर्थका आश्रय है—अर्थ शब्दके आश्रित है। इसी लिए हम शब्दको काव्यका स्थूल और अर्थको सूक्ष्म कलेवर कहते हैं। सौन्दर्य्य या चमत्कार आत्मा है ही।

यदि किसी पुरुषका शरीर बहुत सुन्दर है, पर उसका मन और बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर निकम्मा है—स्थूल शरीरसे सुन्दर होनेपर भी जो पुरुष कुत्सित मन और बुद्धि रखता है, उसे कौन सज्ञान पुरुष अच्छा कहेगा? उसे तो वे ही अच्छा और सबसे अच्छा कहेंगे, जो स्वयं बुद्धिशून्य हैं। एक आदमी देखनेमें बहुत अच्छा मालूम होता है। उसके शरीरकी गठन सुन्दर और रंग गेहुँआ है। उसने अपने इस सुसंगठित शरीरको आभूषित करनेके लिए बढ़िया बढ़िया वस्त्र और बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णाभूषण पहन रक्खे हैं। वह पुरुष पान खाकर इत्र आदिसे सुवासित हो बाजा-

रमें घूमने निकला। प्रथमतः उस पुरुषकी ओर सबकी दृष्टि आकर्षित होगी। बाद, जो विज्ञ जन होंगे, उसका सम्पर्क होनेपर, उसके गुणोंके जाननेकी इच्छा करेंगे। जब मालूम होगा कि उसमें सिर्फ ऊपरी ही बनाव-सिंगार है, गुण एक भी नहीं: वह विद्या-बुद्धि आदिसे शून्य है, तो फिर उनकी उस पुरुषकी ओरसे चित्त-वृत्ति हट जायगी—वे उसका आदर न करेंगे। परन्तु, जिनमें स्वयं दाक्षिण्यादि गुण नहीं और न गुण-निरीक्षणमें प्रवृत्ति ही है, वे पुरुष उसका खूब आदर करेंगे। वे उसकी सजावटपर मुग्ध होकर उसे बड़ा आदमी मानेंगे और आदर करेंगे। परन्तु वस्तुतः वह सजा-बजा आदमी दाक्षिण्यादि गुणोंसे शून्य होनेके कारण 'निर्गन्धा इव किंशुकाः'—गन्धहीन पलाशके फूलके समान किसी प्रकार भी उत्तम श्रेणीका नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जिस काव्यमें शब्दोंकी सजावट तो खूब है: परन्तु अर्थगत वैसा कोई चमत्कार नहीं है और न कोई मनोभाव ही अभिव्यक्त है, तो उसे एक सामान्य काव्य कहेंगे। हम बतला चुके हैं कि इसी सामान्य काव्यका नाम शब्द-चित्र है, जो वस्तुतः काव्यकी तीसरी श्रेणीमें है।

शब्द-चित्रसे ऊँचा दर्जा अर्थ-चित्रका है। जिस काव्यमें अर्थगत चमत्कार या सौन्दर्य्य प्रधान रूपसे हो—कोई उत्कृष्ट अर्थालङ्कार हो—उसे 'अर्थ-चित्र' काव्य कहते हैं। अर्थगत वैचित्र्यके कारण ही इसका नाम अर्थ-चित्र है। यह काव्य मध्यम श्रेणीका है। कारण, शब्दसे अर्थका दर्जा ऊँचा है। यदि कोई पुरुष शरीरसे उतना सुन्दर न भी हो, किन्तु उसमें विद्या-बुद्धि आदिकी प्रधानता हो, तो विवेकी जन उसे उस पुरुषसे बहुत बढ़कर अच्छा समझेंगे, जो सुन्दर-शरीर होकर भी मूर्ख और उजड्ड है।

इन दोनों काव्योंसे बढ़कर उत्तम काव्य वह है, जिसमें किसी एक या अनेक मनोभावोंका अभिव्यञ्जन प्रधान हो। जिस पुरुषमें विद्या-बुद्धि तो है, पर हृदय-शून्यता है, उसे कोई भी सहृदय उत्तम पुरुष नहीं कह सकता। उस बुद्धि-मान पुरुषको कौन सिर-माथे लेगा, जो सुचतुर होते हुए भी हृदय-हीन है? महात्मा गाँधीके समान अथवा उनसे भी बढ़कर विद्वान् भारतमें क्या कम हैं? फिर उनकी पूजा महात्माजीके समान क्यों नहीं होती? उन चतुर राज-नीति-विशारदोंकी पूजा भारतमें घर-घर क्यों नहीं होती? उन्हें समस्त संसार पुरुषोत्तम क्यों नहीं कहता? उत्तर साफ है, उनमें सब गुण और विद्या महात्मा गाँधीके समान और उनसे भी बढ़कर होनेपर भी वह हृदय नहीं है, जो महात्मा गाँधीमें है। महात्माजी जिस प्रकार हमारे सुख-दुःखोंको देखते हैं, और विद्वान् नहीं देखते। यही कारण है कि महा-त्माजीका आसन सबसे ऊँचा है। जिस पुरुषमें जितना हृदय होगा, उसकी उत्तमता भी उतनी ही होगी। हाँ, हृदयके साथ यदि विविध गुण-गण तथा शरीर-सम्पत्ति भी अच्छी हो, तब तो कहना ही क्या है!

काव्यके विषयमें भी यही बात है। जिस काव्यमें हृदयकी वस्तु है—मनोभावोंकी चमत्कार-पूर्वक अभिव्यक्ति है—वह उत्तम काव्य है।

यद्यपि और और कलाओंके द्वारा भी मनोभावोंका अभि-व्यञ्जन होता है; परन्तु काव्यके द्वारा जिस स्वच्छता और सुन्दरतासे होता है, उस तरह और किसी भी कलासे नहीं। इसी लिए ऐसे काव्यको सब कलाओंसे सर्वथा श्रेष्ठ कहा है।

हमने सौन्दर्य्यको काव्य अथवा कलामात्रकी आत्मा कहा है। साहित्य-दर्पणके कर्ता श्रीविश्वनाथ कविराजने रसको काव्यकी आत्मा कहा है। वस्तुतः कविराजजीका सिद्धान्त ठीक नहीं है; क्योंकि रसको काव्यकी आत्मा माननेसे काव्यमें अव्याप्ति आ जाती है। ऐसी दशामें, जहाँ किसी रस या मनोभावकी अभिव्यक्ति नहीं है, वहां कैसे काव्यत्व–व्यवहार उपपन्न होगा। कारण, वहाँ तो काव्यकी आत्मा रस है ही नहीं! यदि कहा जाय कि वे काव्य ही नहीं, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि उन वाक्योंमें काव्य-व्यवहार चिरन्तन है और मन भी मानता है कि वे काव्य हैं। बुद्धिमें भी यही बात आती है और युक्ति भी यही सिद्ध करती है। अतएव रस नहीं, सौन्दर्य्य ही काव्यकी आत्मा है; काव्यकी ही क्यों, कलामात्रकी।

काव्यके ये उत्तम, मध्यम और सामान्य नामके तीन भेद कलाकी दृष्टिसे हुए।

शब्द और अर्थमें बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्दके श्रवण-गोचर होते ही अर्थकी प्रतीति हो जाती है। पहले शब्द इन्द्रियगोचर होता है, तब अर्थ। बालककी पहले शब्दमें प्रवृत्ति होती है, फिर अर्थमें। कवि-जगत्‌के लिए भी यही बात है। कविकी प्रथम प्रवृत्ति शब्दमें ही होती है। वह बड़े सुन्दर–सुन्दर शब्दोंको अपने काव्यमें लानेकी चेष्टा किया करता है। उसकी समस्त शक्ति सदा शब्द-सौष्ठवको निहारनेमें और उसका सञ्चय करनेमें लगी रहती है। शब्द–स्वरूपमें वह दिनरात तन्मय रहता है। ऐसी दशामें—इस प्रथम अवस्थामें—अर्थ-गाम्भीर्य्य आदिकी ओर उसका मन जाता ही नहीं। उसके ध्यानमें यह आता ही नहीं कि शब्दसे आगे भी कोई वस्तु है और उसमें भी चमत्कार है।

उसे शब्द-सौन्दर्य्य ही काव्यका सर्वस्व जान पड़ता है। इस प्रकार दिनरात शब्द-राशिमें घूमते-घूमते और उसमेंसे मनचाहे शब्द-रत्नोंका संग्रह करते-करते उसके पास विपुल शब्द-सम्पत्ति संगृहीत हो जाती है। इस दशामें वह शब्दोंके लिए किसीका मुँहताज नहीं रह जाता। जब उसके पास यों उत्कृष्ट शब्द-सम्पत्ति आ जाती है—वह शब्दोंका या शब्द-रत्नोंका कुबेर बन जाता है—तो फिर उसका मन उधरसे आगे बढ़ता है अब वह शब्दोंका गोरख-धन्धा छोड़ अर्थ-गाम्भीर्य्य और आर्थिक चमत्कार देखने लगता है। कविकी यह किशोरावस्था है। इस दशामें वह अपने शब्दोंके अर्थों-पर अधिक ध्यान रखता है, थोड़े शब्दोंमें बहुत बड़ा अर्थ व्यक्त करनेकी और विविध भाँति अर्थोंको अलं-कृत करनेकी चेष्टा करता है। अब जब कि कविकी दृष्टि अर्थपर ही रहती है, उसे अपने अर्थको स्पष्ट और ठीक ठीक प्रकट करनेके लिए शब्दोंको ढूँढ़ना नहीं पड़ता। उसकी इच्छाके अनुरूप सुन्दरसे सुन्दर शब्द हाथ जोड़ उसके आगे खड़े रहते हैं। अब उसे शब्दोंके चुननेके लिए विशेष आयो-जन नहीं करना पड़ता: क्योंकि वह पहले ही शब्द-देवताकी उपासना पूर्णरूपसे कर चुका है। इस दशामें वह जिस काव्यकी रचना करता है, उसमें अर्थ-गाम्भीर्य्य और अर्थ-चमत्कार तो होता ही है; किन्तु शब्द-सौष्ठव भी कम नहीं होता। अब अर्थ-चमत्कारके साथ-साथ शब्द-सौन्दर्य्य उसके काव्यमें उचित मात्रामें रहता है। पहलेकी तरह केवल शब्दोंकी ही जगमगाहट नहीं रहती। जब बच्चा छोटा होता है, तो उसमें विद्या-बुद्धि तथा अन्यान्य विविध गुणोंका अभाव रहता है। परन्तु, इस अवस्थामें उसका शरीर-सौन्दर्य्य अपूर्व होता है, जो सबका मन अपनी ओर आक-

र्षित कर लेता है। इस अवस्थामें माता-पिता तथा अन्य लोगोंके लिए भी बच्चेकी शोभा और उसकी मीठी-तोतली बोली ही सर्वस्व होती है। उसमें इस समय न तो कोई गुण विशेष ही होते हैं और न उनकी ओर किसीका ध्यान ही जाता है। ऐसे समयमें अनेक सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और आभूषणोंसे माता-पिता अपने बच्चेके कमनीय कलेवरको आभूषित करते हैं। कवि भी अपनी कविताका माता-पिता है। वह अपनी बाल-कविताके शरीर—शब्द—को खूब सजाता है।

जब बच्चा कुछ बड़ा होता है, तो उसकी ज्ञान-वृद्धि होने लगती है। धीरे-धीरे माता-पिताकी प्रवृत्ति इस ओर होती जाती है कि इसे कुछ पढ़ाया-सिखाया जाय। अब ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि किस प्रकार उसमें अधिकाधिक ज्ञानवृद्धि हो। धीरे धीरे उसके वे चटकीले-भड़कीले वस्त्र और आभूषण उतरते जाते हैं। होते-होते आभूषणोंकी संख्या बिलकुल कम हो जाती है। साथ ही उसकी ज्ञान-गरिमा बहुत बढ़ जाती है। ठीक इसी प्रकार कवि भी अपने काव्यकी दूसरी दशामें शब्दोंकी सजावटकी ओरसे मन आगे बढ़ाकर अर्थ-गाम्भीर्य्यके सम्पादनमें लगाता है।

जब देवदत्त किशोरावस्थासे बढ़कर यौवनमें प्रवेश करता है, तब विविध ज्ञानोंके सम्पादनमें सफलता प्राप्त कर चुकता है। अब वह अपनी विद्याओंका मनन करता है और जगत्‌के विविध क्षेत्रोंमें स्वतन्त्र विचार करता है—प्रत्येक पहलूपर अपने विचार प्रकट करता है। यही उसके जीवनकी सबसे बड़ी उच्चता है। कवि भी इसी प्रकार अपने काव्यका यौवन-काल आनेपर शब्दों और अर्थोंके द्वारा विविध मनोरम

मनोभावोंका अभिव्यञ्जन बड़े मोहक ढँगसे करता है। यही काव्यकी सर्वोत्तम दशा है—यही काव्य सबसे बढ़कर है।

काव्य-रचयिताकी ही तरह काव्यप्रेमीकी भी प्रवृत्ति पहले शब्दमें ही होती है। प्रारम्भमें जब कोई काव्य पढ़ने लगता है, तो उसे शब्द-सौन्दर्य्य सबसे पहले अपनी ओर आकर्षित करता है। उसे अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकार ही सब कुछ मालूम पड़ते हैं। वह उन्हींमें रमा रहता है। अर्थ-गाम्भीर्य्य आदितक न तो उस समय उसकी पहुँच ही होती है और न यह सब उसे अच्छा ही लगता है। फिर होते-होते वह शब्द-ब्रह्ममें पूर्णतः निष्णात हो जाता है। तब उसका मन अर्थकी ओर आता है। वह किसी काव्यके पढ़ते समय देखता है कि इसके अर्थमें कितनी गम्भीरता और चमत्कार है। अनन्तर उसकी पहुँच और भी आगे होती है। धीरे धीरे वह रसोंका आस्वाद लेने लगता है और वहींका हो रहता है। इस प्रकार कविकी भाँति काव्य-रसिक (सहृदय) की भी तीन दशाएँ होती हैं; या यों कहिए कि उसके ज्ञानकी ये दशाएँ हैं।

ऊपर जो काव्यकी तीन श्रेणियाँ बतलायी गयी हैं वे सबकी सब प्रत्येक कवि और सहृदयके जीवनमें क्रमशः आती जाती हैं। उत्तम श्रेणीका काव्य करना और समझना तभी आयेगा, जब सामान्य और मध्यम कोटिका उपयोग हो लेगा। कारण, काव्य-रचनाके लिए शब्द और अर्थकी अत्यन्त आवश्यकता है। उसके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। हाँ, यह बात और है कि कोई कवि या सहृदय प्रथम तथा दूसरी कोटिका पार शीघ्र पा जाय और कोई देरमें। सम्भव है, कोई प्रथम कोटिमें ही रह जाय, आगे बढ़ ही न सके; या

दूसरी कोटिमें अटक जाय। यह सब प्रतिभाके अधीन है। किसीका कुछ जोर नहीं।

हमारा खयाल है, अब सब कुछ साफ हो गया है। जो कुछ हम कहना चाहते थे, खूब अच्छी तरह कह दिया है।

५—काव्यमें स्वाभाविकता

काव्यमें स्वाभाविकताका रहना बहुत जरूरी है, जिसके विना वह वास्तविक काव्य नहीं कहा जा सकता—उसका दर्जा बहुत नीचे गिर जाता है। स्वाभाविकता कविताका सहज सिंगार है। जो बात संसारमें जैसी हो, ठीक वैसीकी वैसी ही वर्णन करनेका नाम स्वाभाविकता है। जिस वस्तुका रूप-रंग और स्वभाव-प्रभाव आदि जैसा है, ठीक वैसा ही वर्णन करना चाहिए। उसमें कुछ उलट-फेर न होने पावे। लोकके अतिरिक्त विविध शास्त्रोंका भी ध्यान रखना होता है। जिस शास्त्रका विषय प्रसंगवश आया हो, वह बिलकुल उस शास्त्रके अनुसार ही वर्णित होना चाहिए। यदि लोक-शास्त्रके विरुद्ध या असंगत वर्णना काव्यमें होगी, तो वह कविके अज्ञानको सूचित करेगी। फलतः वह वर्णना सहृदयोंकी उद्वेजक होगी, वे उसका तिरस्कार करेंगे। इस लिए कविको इधर सदा सचेष्ट रहना चाहिए। इसके लिए उसे खूब लौकिक और शास्त्रीय विषयोंमें अनुभव बढ़ाना उचित है। दुनियाकी छोटी-बड़ी सभी चीजें वह पुरुष बड़े ध्यानसे देखे और उनपर विचार करे, जिसे कवि-पद प्राप्त करनेकी महती आकांक्षा हो। घर-बाहर, नगरमें अरण्यमें, खाते-पीते और चलते-फिरते, सदा और सर्वत्र सब वस्तुओंके स्वरूप और स्वभावका पूर्ण अध्ययन तथा मनन वह पुरुष

करे, जो वास्तविक कवि बनना चाहता है। ठीक इसी प्रकार विविध शास्त्रों और कलाओंका ज्ञान कविके लिए आवश्यक है।

यदि लौकिक तथा शास्त्रीय विषयोंका ज्ञान सम्पादन किये बिना कोई कविता करने बैठ जायगा, तो पद-पदपर गलतियाँ करेगा, कुछका कुछ लिखेगा—और सहृदय-समाजमें अपनी हँसी उड़वायेगा। कारण ऐसा पुरुष बिलकुल अस्वाभाविक वर्णन करेगा। करे क्या, उसे पता तो कुछ है ही नहीं। इस लिए, स्वाभाविक रचना करनेके लिए, विविध विषयोंका ज्ञान अपेक्षित है।

जगत्के तथा शास्त्रोंके ज्ञानसे युक्त कवि जो कुछ भी कहेगा, वह यथार्थ तो होगा ही, किन्तु उसकी प्रतिभाकी बढ़िया पालिशसे वह चमक उठेगा। जो फूल आप रोज देखते हैं और जिसे नगण्य समझते हैं, जब उसे ही कवि-हृदयसे देखेंगे, तो विशेष चमत्कार मालूम होगा। यह चमत्कार कविकी प्रतिभाका है। कवि उस फूलके स्वरूप और रंग आदिका ठीक वैसा ही वर्णन करेगा, जैसा वस्तुतः है। यही स्वाभाविकता है। परन्तु, वह इस ढँगसे वर्णन करेगा कि, आप 'वाह वाह' करने लगेंगे—आपका मन लोट पोट हो जायगा। यह क्यों ? उसके वर्णनके इस अनुपम 'ढंग' के कारण। यह वर्णन करनेका ढंग कविकी प्रतिभाकी उपज है। कवि और इतिहासकारमें अन्तर क्या है ? यही वर्णनके ढँगका। कवि भी यथार्थ बात कहता है और इतिहासकार भी। परन्तु कविके वर्णनमें जो मिठासकी उपलब्धि होती है, दूसरी जगह वह ढूँढ़े नहीं मिलती। मलतब यह कि चित्ताकर्षक ढंगसे वस्तुस्थितिका वर्णन करना; पर सच्चा।

स्वाभाविकताके विषयमें एक नया मत

स्वाभाविकताके विषयमें आजकल एक नया ही मत दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि जो शब्द-रचना बिलकुल स्वाभाविक हो, जिसमें कुछ भी शब्द अथवा अर्थके बनाव-सिंगारपर ध्यान न दिया गया हो और न और ही कुछ कारीगरी की गयी हो, वही वस्तुतः काव्य है। उसे ही स्वाभाविक काव्य कहना उचित है। उन लोगोंका कहना है कि 'बनको डगरि गये दोउ भाई' आदि ग्राम-गीत ही वास्तविक काव्य हैं। इन गीतोंके सामने व्यास, वाल्मीकि और कालिदास आदिके काव्योंकी कोई गिनती ही नहीं! कहते हैं, एक-एक ग्राम-गीतपर सैकड़ों व्यास-वाल्मीकि तथा माघ-कालिदास निछावर हैं! वे इसका कारण बतलाते हैं कि ग्राम-गीतोंमें स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता क्या चीज है, इस प्रश्नके उत्तरमें वे कहते हैं कि जिस वाक्यके शब्दों और अर्थोंमें कोई सजावट न की गई हो, वही स्वाभाविक वाक्य है। ऐसा ही वाक्य उत्तम कविता है। मतलब यह कि जिस वाक्यमें कोई विशेष सजावट न हो, जो बिलकुल सीधा-सादा हो, वही उत्तम काव्य है।

अब हम संक्षेपमें इस मतपर विचार करते हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि स्वाभाविकता कविताका भूषण है। हमने यह भी बतलाया कि लौकिक तथा शास्त्रीय विषयोंका ठीक वैसा ही वर्णन, जैसे वे हैं, स्वाभाविक है। जो वस्तु या विषय जैसा है, उसका वैसा वर्णन न करके ऊटपटाँग करना अस्वाभाविक या स्वभाव-विरुद्ध वर्णन है। स्वभाव-विरुद्ध वर्णन कवितामें त्याज्य है। इसके विरुद्ध ये नवीनों

लोग कहते हैं कि जैसा कुछ हम बोलते-चालते हैं, वही सर्वथा स्वाभाविक है और जिसमें ऐसा वर्णन है, वही उत्तम कविता है। हमारा कहना यही है कि स्वाभाविकता वस्तुस्थितिके प्रदर्शनमें होनी चाहिए, वर्णनके ढँगमें नहीं। वर्णनका ढँग तो विशेष रोचक ही होना चाहिए; तभी तो हम उसे काव्य कहेंगे। अन्यथा साधारण वाक्य-विन्यासमें और कवितामें अन्तर ही क्या रहेगा? फिर तो हम-तुम जो कुछ बोलते-चालते हैं, बेधड़क सब काव्य ही हैं; क्योंकि सब स्वाभाविक ही बोलते हैं, कोई शब्दार्थमें विशेष बनाव-सिंगार करता ही नहीं है। यदि ऐसा है, तब तो काव्य बड़ा सस्ता पदार्थ है। फिर उसकी इतनी इज्जत क्यों? और फिर कवियों या काव्योंकी गणना कैसी? सब जगत् कवि है—सभी स्वाभाविक बोलते हैं। क्या खूब तमाशा है।

अजी, काव्यकी गिनती कलामें है। कलामें बनाव-सिंगार होता ही है। किसी प्राकृतिक पदार्थको कौशलविशेषसे अधिक चमत्कृत और आकर्षक बना देनेका नाम ही तो कला है न? तो फिर प्राकृतिक पदार्थ—शब्दार्थको विशेष ढँगसे प्रयुक्त करके उसमें चमत्कार पैदा कर देना ही तो काव्य हुआ न? यदि यह बात स्वीकार है, तो फिर अपने आप नवमत-निराकरण हो गया। और यदि यह स्वीकार नहीं है, तो निवेदन यही है कि कलाका लक्षण तो आप कीजिए। देखें, आप कला किसे कहते हैं? कलाका लक्षण करके यह भी बतलाना होगा कि काव्यकी गिनती कलामें है कि नहीं। यदि कलाका वही लक्षण है, जो हमने किया है और अगर काव्य भी कला है, तो यह कपोल-कल्पित प्रलाप सहज ही उड़ जाता है। और कुछ इसके

विरुद्ध कहा भी नहीं जा सकता है। जो लक्षण हमने कलाका दिया है सर्वसम्मत है, और काव्यको सबने कला माना है। अतएव काव्यमें बनाव-सिंगार अत्यावश्यक है। बिना बनाव-सिंगारके काव्यका अस्तित्व ही नहीं। फिर भले ही वह बनाव-सिंगार शब्दका हो, अर्थका हो, अथवा मनोभावोंके प्रदर्शनमें उसका उपयोग हो। काव्य कला है। कलाका प्राण सौन्दर्य है। प्राकृतिक पदार्थोंमें सौन्दर्य ले आनेका नाम कला है। कविता होती नहीं है, की जाती है, बनाई जाती है। जो काव्य बिलकुल सीधा-सादा और प्रसन्न है, वह भी बनाया गया है। काव्य बनानेका भी अभ्यास किया जाता है। जब यह अभ्यास पक्का हो जाता है, तो फिर सिद्ध कविके मुखसे अनायास सुन्दर काव्य-धारा निकला करती है। इस अवस्थामें यद्यपि कवि शब्द अथवा अर्थको अलंकृत करनेके लिए कोई विशेष चेष्टा नहीं करता, तो भी पूर्वाभ्यास-वश उसके मुखसे उचित मात्रामें अलंकृत शब्दार्थ निकलते हैं। वह इस रीतिसे विविध मनोभावोंका अभिव्यञ्जन करता है कि मन मुग्ध हो जाता है। यह सब सीखनेसे और सतत अभ्याससे आता है।

बालक पहले जब लिपि-कलामें प्रवेश करता है—जब अक्षर लिखना सीखता है, तब उसे उसमें कितना तन्मय हो जाना पड़ता है? उसका समस्त ध्यान उधर ही लग जाता है। फिर धीरे धीरे जब लिपि-अंकनमें उसका अभ्यास पक्का हो जाता है, तब उसके लिखनेमें उसे कुछ भी सोच-विचार नहीं करना पड़ता। फिर तो वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि विविध विचार सर्राटेसे लिखता चला जाता है। उसे यह सोचनेका अवसर ही नहीं आता कि अमुक अक्षर कैसे बनाना चाहिए। उसके मनमें विचार-धारा बहती रहती है,

और उसके हाथोंसे अनायास वे अक्षर निकलते चले जाते हैं, जो उसके उन विचारोंके द्योतक हैं। कहनेका मतलब यही कि इस पर्की अवस्थामें उसका ध्यान अक्षर-विन्यासपर उतना नहीं रहता, जितना विचारोंपर। यही दशा कविकी है। प्रथम वह शब्द और अर्थके विचार और सजावटमें लगा रहता है। फिर वह इस विषयमें अभ्यस्त हो जाता है। अब वह अनन्त मनोभावोंका अभिव्यञ्जन अपने काव्यद्वारा करता है और उसके विचारोंके अनुरूप शब्द एवं अर्थ हाथ जोड़े उसके सामने खड़े रहते हैं। वह जैसे विचार प्रकट करना चाहता है, उसीके अनुरूप शब्द उसकी वाणीसे निकलते हैं। यह सब अनायास ही होता चलता है, जो पूर्वाभ्यासका फल है। इस दशामें कौन कह सकता है कि काव्य बनाव-सिंगारकी चीज नहीं है ? हाँ, यह हम मानते हैं और सभीने माना है कि मनोभावोंके अभिव्यञ्जक काव्यमें शब्दों और अर्थोंके विशेष सजानेकी जरूरत नहीं। ऐसा प्रायः होता भी नहीं है। सुशिक्षित सहृदय पुरुष या महिलाके लिए विशेष आभूषणोंकी जरूरत नहीं और वे उसे अच्छे भी नहीं लगते। उसके हाथमें तो एकाध बढ़िया अँगूठी आदि ही पर्य्याप्त है। इसी प्रकार उत्तम काव्यमें एकाध शब्दालंकार या अर्थालंकार ही बहुत समझा जाता है, सो भी बिलकुल हलका। यही कारण है कि शृंगार आदि रसोंके अभिव्यञ्जक काव्यमें 'यमक' आदि बीहड़ अलंकारोंके लानेकी मनाई है। ऐसे काव्योंमें सादगी ही अच्छी लगती है। परन्तु, जहाँ कोई मनोभाव अभिव्यक्त नहीं होता, ऐसे स्थलमें शब्दार्थको अलंकृत करना परमावश्यक हो जाता है। यदि इन स्थलोंको यों अलंकृत न किया जाय, तो फिर इन्हें काव्य ही कोई कैसे कह सकता है ? सौन्दर्य्य ही तो समस्त कलाओंकी आत्मा

है और काव्य भी कला है। जहाँ कोई विशेष सौन्दर्य्य नहीं, वहां काव्य-व्यवहार हो ही कैसे सकता है?

रही बात स्वाभाविकताकी: सो हम पहले ही कह चुके हैं कि स्वाभाविकता काव्यके लिए बहुत आवश्यक है। और स्वाभाविकता क्या चीज है, सो भी बतला चुके हैं। यही प्राचीन काव्याचार्य्योंका सिद्धान्त है और युक्तिसंगत है।

प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदिका ठीक ठीक वर्णन करना ही स्वाभाविकता है। क्रिया, स्वरूप आदिके हूबहू वर्णनमें विशेष चमत्कार है, अतएव इसे साहित्याचार्य्योंने काव्यका अलंकार ही माना है। इसका नाम 'स्वभावोक्ति' अलंकार है। बच्चोंकी तथा मृगादिकोंकी विविध क्रियाओंका ठीक ठीक वैसा ही वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार है।

सो, स्वाभाविक काव्य सभी चाहते हैं और काव्यमें स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है; परन्तु स्वाभाविकता वह है, जिसका ज़िक्र ऊपर कई बार हमने किया है। इसके विरुद्ध जो कहते हैं कि "मुँहसे जो बात सहज ही निकल जाय, वही स्वाभाविक है और अतएव काव्य है," उनकी सेवामें विनीत निवेदन है कि वे लोग काव्यके स्वरूपको समझें और फिर उसका लक्षण करें।

रही बात यह कि एक-एक ग्राम-गीतपर सैकड़ों व्यास-वाल्मीकिके काव्य निछावर किये जा सकते हैं, सो, ऐसा कहनेवालोंका मुख कोई नहीं पकड़ सकता—मुँह अपना है! 'मुखमस्तीति वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी।' संसारमें अनेक प्रकारके जीव होते हैं, जिनमें 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' होती है।

हाँ, यह बात तो ठीक ही है कि जिस वाक्यमें चमत्कार होगा, वही काव्य कहलायेगा: फिर चाहे वह व्यास, वाल्मीकि या कालिदासकी कृति हो और चाहे ग्राम-गीत हो। चमत्कारके ही आधारपर काव्यके उत्कर्षका तारतम्य भी है।

६–आदर्शवाद और यथार्थवाद

प्रश्न है, कविताका कोई आदर्श है कि नहीं? इसका उत्तर यही है कि जो मानवताका आदर्श है, वही कविताका भी है। मानव-विचारोंका नाम ही तो कविता है, जो एक चित्ताकर्षक ढँगसे व्यक्त किये गये हों। अतएव यदि मनुष्य-का कोई आदर्श है, तो कविताका भी है; यदि एकका नहीं, तो दूसरेका भी नहीं। इसपर कोई भी विचारवान् पुरुष यह नहीं कह सकता कि मनुष्य-जीवनका कोई आदर्श नहीं है, या न होना चाहिए। हाँ, कुछ ऐसे भी जीव मिलेंगे, जो मनुष्य-जीवनको आदर्शहीन कहते और समझते हैं। इन लोगोंका सिद्धान्त होता है कि खाओ, पियो और मौज करो। बादमें "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?" इनसे हमें कुछ कहना नहीं है। जो मनुष्य-जीवनका कुछ आदर्श या लक्ष्य मानते हैं, उन्हींसे कहना है। उन्हींसे हम कहेंगे, और वे ही मानेंगे कि काव्यका भी कुछ आदर्श है।

अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस ही मनुष्यका लक्ष्य है। सत्याचरण आदि इसकी प्राप्तिके साधन हैं। काव्यका भी यही लक्ष्य और आदर्श है। वह मानव-समाजको इधर मजेके साथ प्रेरित करता है। काव्यके द्वारा सहृदयको लौकिक आनन्द अलौकिक रूपमें तो मिलता ही है; साथ ही वह इसे उस अव्यक्तकी ओर भी प्रेरित करता है, "न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता, न द्वेष-रागौ न च काचिदिच्छा।" कहा भी है:—

"चतुर्वर्ग-फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि काव्यादेव।"

अर्थात् सुकुमारमति पुरुषोंको भी चतुर्वर्गकी प्राप्ति सत्का-व्योंके द्वारा बड़े आनन्दसे हो जाती है। यही आदर्शवाद है।

मनुष्यको सत्प्रवृत्तिकी ओर झुकानेके लिए तादृश काव्यका प्रणयन किया जाता है।

इसके साथ ही एक 'यथार्थवाद' भी है। लोगोंका कहना है कि लोकमें जो कुछ होता है, या जो कुछ है, उसीका चित्रण कर देना कविका काम है। कवि कोई उपदेशक या धर्म्मशास्त्री नहीं है, जो इस बातकी उलझनमें अटका रहे कि इससे लोगोंकी सत्प्रवृत्ति होगी, या कुप्रवृत्ति। आचार्य्य रुद्रटने कहा भी है:—

न हि कविना परदारा एष्टव्या नाऽपि चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयाऽन्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥

अर्थात् कवि दूसरोंकी स्त्रियोंकी इच्छा नहीं करता, न उसे ऐसा करना चाहिए, और न वह उन्हें कुछ 'वैसी' बातें सिखाता ही है; वह दूसरोंको, कर्तव्य-बुद्धिसे, उन्हें उड़ाने, आदिका उपाय भी नहीं बतलाता; वह तो केवल उनका इतिवृत्त काव्यमें ग्रथित करता है; क्योंकि वह भी काव्यका अंग है; और विद्वानोंको प्रसन्न करने लिए ही वह ऐसा करता है: अतएव उस कवि बेचारेका इसमें कुछ भी दोष नहीं है।

पाठकोंको समझ लेना चाहिए कि संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके 'आर्य्या-सप्तशती' 'गाथा-सप्तशती' और और 'बिहारी-सतसई' आदि शृंगार-पचड़ोंकी यह वकालत है। लोगोंको बहुत पहलेसे शिकायत है कि इस प्रकारके असत्काव्य लोगोंको और लुगाइयोंको शैतानी सिखाते हैं, उनकी प्रवृत्ति बुरे मार्गमें करते हैं, उन्हें तरह-तरहके

तौर-तरीके सिखाते है, और उनका जीवन बिगाड़ते हैं। इन्हीं आक्षेपोंका उत्तर ऊपर रुद्रटके श्लोकोंमें है। उन्होंने इन्ही आक्षेपोंको दूर करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु, उनकी वकालतको हृदय स्वीकार नहीं करता। खैर, इसका विचार हम आगे करेंगे। यहाँ यही समझ लेना चाहिए कि यही ' यथार्थवाद ' है। दुनियाँमें जो देखा, कविने लिख दिया। उसकी भलाई-बुराई सोचना कविका काम नहीं है। वह उसमें फेर-फार भी करनेका अधिकार नहीं रखता। संक्षेपमें यही ' यथार्थवाद ' है।

यथार्थवाद और आदर्शवादका झगड़ा बहुत पुराना है। आज-कल भी यह विवाद चल रहा है, और शायद सदा ही चलता रहे; क्योंकि सबकी चित्त-वृत्ति समान तो होती ही नहीं। फिर भी, इस विषयपर विचार करना आवश्यक है। हम कह चुके है कि लक्ष्य या उद्देश्यके अर्थमें ही प्रायः आदर्शका प्रयोग ऐसे स्थलोंमें लोग करते हैं। अत एव ' आदर्शवाद 'को ' उद्देश्यवाद ' भी कह सकते हैं।

वस्तुतः काव्यमें यथार्थ और आदर्श, दोनोंकी जरूरत है। कविका वर्णन यथार्थ ही होता है, पर आदर्शसे संवलित। आदर्शको छोड़कर यथार्थ किसी कामका नहीं और और यथार्थसे परेका आदर्श भी दो कौड़ीका। आदर्श व्यवहार्य्य ही होना चाहिए—भूमितिकी सरल रेखासे क्या मतलब ? वह किसीके किस कामकी ? केवल कल्पनाकी वस्तु है। अत एव कविकी कल्पनाका आदर्श यथार्थ किंवा व्यवहार्य होना चाहिए। इसी प्रकार यथार्थ भी आदर्शच्युत न हो। यथार्थ आदर्श ही काव्यको अपेक्षित है।

कहा जाता है, जो कुछ दुनियाँमें है, कवि उसे ही अपने काव्यमें चित्रित करेगा। वह यथार्थको छोड़कर कहाँ और कैसे जा सकता है? ऐसा करके वह अपना उपहास न करायेगा। वह ठीक ठीक वर्णन करेगा—कुछ भी परिवर्तन न करेगा। और संसारमें भले-बुरे सब प्रकारके मनुष्य हैं। उनके चरित भी सब तरहके हैं। ऐसी दशामें सदाचारी पुरुषोंके चरितको ही कवि यदि अपने काव्य-जगतका उपादान बना ले, तो फिर उसका वह जगत् अधूरा और उपहसनीय होगा। अतएव जो कुछ कवि जगतमें देखता-सुनता है, वही चित्रित कर देता है। फिर उसके ऐसे काव्यसे यदि किसीका आचरण भ्रष्ट होता है, तो यह उसकी कमजोरी है। वह अपने चित्तको क्यों इतना कमजोर किये है, जो जरासे शब्दसे पथ-विचलित हो जाता है? ऐसे लोगोंका खयाल करके कोई कवि क्योंकर अपना वैसा काव्य बनाना छोड़कर यथार्थसे परे जा गिरेगा? काव्य कुछ धर्म्म-शास्त्र नहीं है, जिसमें इन बातोंका विचार हो। वे तो काव्य हैं। उनमें यथार्थ चित्रण होगा—भले और बुरे, सदाचारी और व्यभिचारी तथा सती और कुलटा आदि सभीके चित्र काव्यमें खींचे जायँगे। यही यथार्थवाद है।

अब हम इस यथार्थवादकी जाँच करते हैं। यह सच है कि कवि अपने काव्यका उपादान इसी प्रत्यक्ष जगत्से लेता है, अतएव उसके काव्यमें भी 'कारण-गुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' न्यायके अनुसार, उसके उपादानभूत उसी जगत्के गुण, किसी न किसी रूपमें, विद्यमान रहेंगे। बाह्य और आन्तर जगत्के विविध रूपोंकी ही दिव्य और उज्ज्वल मूर्ति काव्य है। जो जैसा है, उसका ठीक वैसा ही वर्णन करना कवि-कर्म है, यह हम पहले कह चुके हैं। वस्तु-

स्थितिसे उलटे बह जाना अस्वाभाविकता है, जो कवि-ताका महान् दोष है। अतएव जो जैसा है, उसका ठीक ठीक वैसा ही वर्णन करना यथार्थ-काव्य है। इसी सिद्धान्त-का नाम 'यथार्थवाद' है। परन्तु, यथार्थ-वादका सहारा लेकर कलामें हालाहल मिलानेका कार्य्य दुःसाहसमात्र है। उसे हम वास्तविक कला ही नहीं कह सकते जो लोगोंकी मनःप्रवृत्ति उल्टी दिशाके अभिमुख कर दे; फिर, काव्य-कला तो शब्दार्थाश्रित है, जिसका मुख्य उद्देश्य ही आस्वाद-पूर्वक विविध शिक्षा देना है। हमने माना कि प्रत्यक्ष जगत् ही काव्यका उपादान है और जगत्में भले-बुरे, भलाई-बुराई आदि सब कुछ है। परन्तु यह कोई आव-श्यक नहीं कि कुशल कवि उस उपादानका दुरुपयोग करे। काव्यमें वस्तुस्थितिका प्रदर्शन हो। जहाँ यह बात न होगी वहाँ काव्य दूषित हो जायगा। काव्योंमें दुराचारियोंका भी वर्णन होता है, और सदाचारियोंका भी; किन्तु दुराचार और सदाचारका फल भी बतलाया जाता है। यही काव्यकी पूर्णता है। यदि कहीं दुराचारीके दुराचारका तो उच्छृंखल वर्णन हो; किन्तु उसके कुकृत्यका फल भोगनेका जिक्र उसमें न हो, तो इसे हम दूषित और अस्वाभाविक काव्य कहेंगे। संसारकी वस्तुस्थिति ऐसी है कि प्रत्येक जीवको अपना कर्म-फल भोगना पड़ता है। रामायणमें महादुराचारी रावणके उन भीषण कुकृत्योंका वर्णन है; पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उसकी क्या गति हुई? यदि उसके कुकृत्योंका वर्णन करके उसकी उस दुर्दशाका चित्र न खींचा जाता; तो रामायणको कोई भी सत्काव्य न कहता। महाभारतमें युधिष्ठिरके कुकृत्य—द्यूतक्रीड़ा—का वर्णन है; परन्तु साथ ही यह भी वहीं स्पष्ट किया

गया है कि इस दुर्व्यसनसे उनकी तथा उनके कुटुम्बकी क्या दशा हुई। यदि युधिष्ठिरके जुआ खेलनेका ही जिक्र भारतमें होता और उसके कुफलका चित्र न अंकित किया जाता, तो उसे कोई भी उत्तम काव्य न कहता। सारांश यह कि जगत्का पूर्ण चित्र होना चाहिए, अर्द्ध या एकदेशीय नहीं। जिसमें यह बात होगी, वही उत्तम काव्य है। ऐसी दशामें मनुष्यकी प्रवृत्ति कुकृत्योंसे हटकर सुकृत्योंकी ओर होगी। यही सच्चा 'यथार्थवाद' है, और वस्तुतः 'आदर्शवाद' भी यही है। सच्चा 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' दो बातें नहीं है। नासमझीके कारण ही इन दोनोंमें भेद कर लिया जाता है। मनुष्यका आदर्श सत्य अहिंसा आदिके द्वारा पूर्णताकी प्राप्ति है। काव्यका पर्य्यवसान इसीमें है।

'आदर्शवाद' के नामपर कल्पनाके सहारे बिलकुल हवाई किले खड़े करना, जिनका जगत्से स्पर्श भी नहीं, कभी ठीक नहीं। खेद है कि लोग ऐसा करते है! कुछ कवि 'आदर्श' के नामपर ऐसे 'अज्ञात' स्थलमें निकल जाते, हैं, जो इस जगत्के निवासीके लिए बिलकुल अपरिचित होता है! वे ऐसा वर्णन करते हैं, जो कभी देखा या सुना नहीं गया और न समझमें ही आता है। इस कुप्रवृत्तिकी निन्दा जितनी की जाय, थोड़ी है। जो वस्तुतः काव्यके उद्देश्यसे अपरिचित है, 'यथार्थ-वाद' और 'आदर्श-वाद' के नामपर बहुत भारी गड़बड़ फैलाते हैं! इसका भी संक्षेपमें हाल सुनिए।

झूठा यथार्थवाद

लोग 'यथार्थ-वाद' के नामपर तरह तरहके दुराचार दुनियामें काव्योंके द्वारा फैलाते है। अपने स्वार्थके वशमें पड़कर वे उचित अनुचित कुछ भी नहीं देखते—देख ही

नहीं सकते ! स्वार्थलोलुपता उनकी बुद्धि भ्रष्ट करके प्रतिभाको कुमार्गमें प्रवृत्त कर देती है ! उनकी प्रतिभाका दुरुपयोग होता है। हिन्दीके बिहारीलाल आदि कवियोंमें कैसी अद्भुत प्रतिभा थी ? पर उन्होंने अर्थ-पिशाचके फन्देमें पड़कर उस देव-दुर्लभ प्रतिभाका कैसा दुरुपयोग किया ! यह क्यों ? उसी अपने 'यथार्थवाद' के नामपर, जिसकी वकालत संस्कृतके उस श्लोकमें की गयी है। कहते हैं कि यदि संसारमें कुलटाएँ हैं तो फिर काव्यमें उनका चित्रण क्यों न किया जाय ? हाँ, अवश्य कीजिए, आपको अधिकार है। परन्तु साथ ही आपका कर्तव्य यह भी है कि उनके कुकृत्योंका फल भी चित्रित कीजिए। बतलाइए कि उन्हें अपने कुकर्मका क्या क्या दण्ड मिलता है ? समाजमें उनकी स्थिति कैसी है ? सभ्य-समाजमें वे किस प्रकार घृणाकी दृष्टिसे देखी जाती हैं ? इन सब बातोंका उल्लेख भी होना आवश्यक है। जिस काव्यमें व्यभिचार-वर्णन तो बड़ी रुचिके साथ है; परन्तु उसके फलका नाम नहीं, तो उसे सच्चा चित्र न कहेंगे। वह एकदेशीय और यथार्थसे रहित है। ऐसे काव्योंका प्रणयन, यथार्थ-वादका नाम लेकर करना, उसका मजाक उड़ाना है ! भला, इसे कौन विचारशील 'यथार्थ-वाद' कहेगा ?

कहा जा सकता है कि संसारमें ऐसे भी पुरुष हैं, जो बुरे कर्म्म करते हैं; पर उसका दण्ड नहीं पाते। ऐसी दशामें उनका ठीक ऐसा ही वर्णन यथार्थ होगा। यदि यथार्थके विरुद्ध दण्डका भी वर्णन किया जायगा, तो फिर काव्य एक सच्चा चित्र न रह जायगा और यह कलाविदोंके लिए उद्वेजक होगा। इस आक्षेपका उत्तर देते समय ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थ-वाद और आदर्श-वाद स्वरूपतः एक होनेपर भी इनमें जो जरासा अन्तर है, सो क्या है। यहाँ

यथार्थ-वादका नाम लेकर वैसा दूषित काव्य-प्रणयन समर्थित किया गया है। किसी पुरुषने बुरा काम किया, किन्तु उसका फल नहीं पाया, यह 'यथार्थ' है; किन्तु उसे जो मिलना चाहिए, वह 'आदर्श' है। आदर्श-हीन यथार्थ किसी कामका नहीं। और यह सम्भव नहीं कि किसी दुराचारीको अपने कुकृत्यका फल कभी न कभी और किसी न किसी रूपमें न मिले। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर वह अपना कुफल भोगते दिखायी देगा। परन्तु, यह देखनेके लिए सूक्ष्म दृष्टि और विवेचना-शक्तिकी जरूरत है। सच्चा कवि इसे देख लेगा। कविको क्रान्तदर्शी होना चाहिए—'कवयः क्रान्तदर्शिनः।' जो ऐसे कुफलोंसे विरहित कुकृत्योंका वर्णन काव्यमें करेगा, उसे कभी कोई सच्चा कवि या सत्कवि नहीं कह सकता।

यदि किसीने अपने कुकृत्यका फल न पाया, मान लीजिए, कविकी दृष्टि ही उसपर न पड़ी, तो आदर्शके खयालसे उसके फलकी कल्पना कर लेना कविका काम है। यह कल्पित फल भी वस्तुतः यथार्थ ही समझा जायगा; क्योंकि जगतके वास्तविक व्यवहारपर ही वह स्थित है। और ऐसी सत्य कल्पनाएँ करनेका अधिकार पूर्ण रूपसे कविको है। वस्तुतः ऐसी कल्पनाएँ करना ही कविका मुख्य कार्य्य है। इन्हें ही सच्ची कल्पनाके नामसे पुकारा जाता है। इन्हींसे कविका उत्कर्ष है। व्यर्थ अंट-संट कल्पनाओंसे क्या लाभ? यही कारीगरी है। प्रत्येक कला-विद्का यह काम है कि अपनी कलाकी सुन्दर उपादान-सामग्री चुने, जिसमें लोगोंका कल्याण सम्भावित है; क्योंकि सौन्दर्य्यकी अपेक्षा उपयोगका दर्जा ऊँचा है। यदि कोई देखनेमें सुन्दर और खानेमें स्वादिष्ट मिठाई गुण-

प्रभावमें विष हो, तो उसे कौन प्रज्ञावान् खानेको राजी होगा और कौन उस बनानेवाले हलवाईकी प्रशंसा करेगा ?

हम यह लिख चुके हैं, और स्वीकार करते हैं कि कवि अपने काव्य-जगत्‌के उपादान इस प्रत्यक्ष जगत्‌से ही लेता है; इस दुनियाकी ही बातोंका चित्रण काव्यमें होता है। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि कवि बिना सोचे-समझे सामान्यतः सब संसारको, ठीक उसी रूपमें, अपने काव्यका उपादान बना ले। कविको अधिकार है कि वह अपनी कलाके लिए अच्छीसे अच्छी सामग्री चुने। कलाकारमें प्रतिभा हो, तो जिस कलाका उपादान जितना ही अच्छा होगा, वह कला उतनी ही निर्दोष और सुन्दर होगी। मान लीजिए, एक पाक-कलामें निष्णात पुरुष है। वह अपनी कलाका उपादान दुनियासे लेगा। पाकके लिए घी शक्कर और मैदा आदि सब कुछ उसकी कलाके उपादान हैं। मतलब यह कि खानेकी जितनी भी चीजें हैं, उन सबको वह अपनी कलाका उपादान बना सकता है, ऐसा उसके उस्ता-दने उसे समझा दिया है। अब वह एक स्वतन्त्र कलाकार बन गया और उसने अपना काम शुरू कर दिया। उसने सुन रखा है कि खानेकी जितनी भी चीजें है, सभीका उपयोग मैं कर सकता हूँ। यह सोचकर उसने घी, शक्कर और खोया आदि इकट्ठा किया। वह पाकशास्त्र-वेत्ता हलवाई भाँग पीता था और अफीम भी खाता था। उसने सोचा भाँग और अफीम भी तो खानेकी वस्तुएँ ही हैं। फिर इन-का उपयोग मैं मिठाइयोंके बनानेमें क्यों न करूं? वस्तुतः इन दोनोंके बिना तो न केवल मिठाइयाँ ही, किन्तु समस्त संसार सूना है ! मैं अवश्य अपनी मिठाइयोंमें इन्हें छोड़ूँगा। अहा ! कैसा आनन्द रहेगा ! लोग मेरी मिठाइयाँ खाकर

मस्त हो जायँगे। पहले तो वे इनके स्वादकी प्रशंसा करेंगे और फिर भंग-भवानी तथा अफ़ीम-भवानीकी कृपासे आनन्दके झोंके लेने लगेंगे! तब वे क्यों न मेरे ऊपर-न्यौछावर हो-जायँगे? यह सब सोचकर अपनी प्रकृतिके अनुसार उसने अनेक मिठाइयाँ बनाईं और उन सबमें उन दोनों मादक द्रव्योंका मिश्रण अच्छी तरह किया। मिठाइयोंके बनानेमें वह चतुर था ही। लोगोंने खूब उससे मिठाइयाँ खरीदीं और खायीं। स्वादका क्या पूछना था! अमृत समझिए! लोग खाते जाते थे और उस हलवाईकी तारीफ करते जाते थे। इसके बाद वे नशेमें मस्त होने लगे। उन्हें उस मदमस्तीमें बड़ा आनन्द आया। अब लोग उसी दुकानसे मिठाइयाँ लाने लगे। और दूकानोंकी बिक्री कम पड़ गयी! यहाँ तक कि कई दूकानें टूट भी गयीं। परन्तु, उसकी दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती हो रही थी। शहरमें जहाँ देखो, इसी हलवाईकी कारीगरीका बखान हो रहा है। लोग 'वाह वाह' करके आकाश गुँजाए देते हैं। यही नहीं और और हलवाइयोंके साथ उसकी तुलना भी लोग करते हैं, तो आसमानपर चढ़ा देते हैं।

इधर यह सब हो रहा था और दूसरी ओर उन मिठाइयोंके उपभोक्ताओंके कमनीय कलेवर तथा सुन्दर मस्तिष्क विविध रोगोंसे आक्रान्त होने लगे। धीरे धीरे सब वैद्यजीके पास पहुंचे। वैद्यजीने सोचा; उन सब रोगियोंका निदान एक ही मिला–सबके रोगोंका मूल कारण एक ही था। पूछनेपर मालूम हुआ कि सब लोग मिठाइयाँ खाते हैं और उस दूकानकी खाते हैं। वैद्यजीने उस हलवाईको बुलाया और उसकी मिठाइयोंकी जाँच की। मालूम हुआ कि प्रत्येक मिठाईमें भाँग और अफीमका संमिश्रण है।

वैद्यजीने कहा-"क्यों भाई, तुम ऐसी हानिकारक चीजें मिठाइयोंमें क्यों मिलाते हो?" हलवाईने कहा—"अजी, मुझे तो एक आप ही मिले हैं, जो भाँग और अफीमको हानि-कारक बतलाते हैं! ये तो आनन्द-प्रद वस्तुएँ हैं। इनके विना मिठाइयोंमें रखा ही क्या है? खानेवालोंसे पूछिए, तब कुछ कहिए।" वैद्यजीने उन रोगियोंसे कहा कि तुम लोग इन मिठाइयोंके खानेसे रोगी हुए हो, अत एव पहले इनका खाना छोड़ो, तब रोग हटनेकी आशा करो। तुम इन्हें क्यों खाते हो? इसका उत्तर अधिकांशने यह दिया कि वैद्यजी रोगका कारण और ही कुछ होगा। मिठाई खानेसे ऐसे रोग नहीं हुआ करते और हमसे इनका खाना छूट भी नहीं सकता। वैद्यजीने रोग लाइलाज समझकर इन सबको और उस हलवाईको फटकारकर अलग किया। जो रोगी समझ गए और जिनने उन मिठाईयोंको न खानेकी प्रतिज्ञा की, उनका इलाज किया गया। वे चंगे हो गये।

अब बतलाइए कि कला और 'लोकोत्तर' आनन्दके नामपर उस हलवाईने जनतामें भीषण रोगोंको फैलाकर बुरा किया, या भला? ऐसी कला किस कामकी, जिससे दुनियाका सत्यानाश हो जाय? यह कलाका नहीं, कलाकारका दोष है। कलाकारको उचित है कि अपनी कलाका उपादान ऐसा चुने, जो निर्दोष और गुणकारी हो। कोई कलाकार यदि किसी ऐसी वस्तुको अपनी कलाका उपादान बनाना चाहता है, जिसमें कुछ गुण हैं और कुछ अवगुण परन्तु गुणोंकी मात्रा अधिक है तो उसे चाहिए कि जहाँ तक हो सके, उसके अवगुणोंको दबाकर ही उसे अपनावे। चनेकी दाल खूब बलकारक और स्वादिष्ट होती है; परन्तु उसमें एक बड़ा अवगुण है। वह बादी होती है। सुचतुर

पाचक इसको बादी हटानेके लिए हींगसे इसे छौंक देगा, इससे बादी-दोष दूर हो जायगा। यही दशा काव्य-कलाकी है।

काव्यका उपादान जगत्से लिया जाता है। जगत्में भले-बुरे सब हैं। सबका वर्णन यथावसर काव्यमें होता है। परन्तु सिद्ध कवि इस प्रकार इन सबका वर्णन करेगा कि इन सबसे कुछ न कुछ शिक्षा ही मिले। इसके विपरीत, जिसमें यह चातुर्य्य नहीं है, या स्वयं जिसकी चित्तवृत्ति दूषित है, उससे ऐसा न हो सकेगा। वह कलाके नामपर और यथार्थ-वादके बहाने ऐसा कुरुचिपूर्ण वर्णन करेगा कि जनताका नाश ही हो जाय!

हिन्दीके शृंगारी कवि बिहारीलाल आदिमें यही प्रवृत्ति थी। उन्होंने अपनी प्रतिभाका दुरुपयोग किया। वे चाहते तो ऐसा सुन्दर और सरस काव्य बना जाते, जिससे लोगोंको काव्यानन्द तो भरपूर मिलता ही, साथ ही विविध शिक्षाएँ भी मिलतीं। परन्तु, उन्होंने जो कुछ किया, सामने है। हिन्दीके अधिकांश शृंगारी कवि किसी न किसी राज-दरबारमें आश्रय पाये हुए थे। उनके ये आश्रय-दाता प्रायः व्यभिचारी और कायर थे। वे कवि अपने इन आश्रय-दाता-ओंको खुश करनेके लिए उनकी प्रकृतिके अनुसार काव्य-रचना करते थे, जिनमें स्त्रियोंके व्यभिचारका वर्णन होता था और ऐसी स्त्रियोंके पाप करनेके तौर-तरीके बतलाए जाते थे। इस प्रकार ये कवि एक प्रकारसे अपने आश्रय-दाताओंके 'नर्म-सचिव' या गुर्गे बने रहते थे। यों ये मौज किया करते थे और फिर धीरे धीरे इनकी मनोवृत्ति भी वैसी ही हो जाती थी। अपनी उसी मनोवृत्तिसे प्रेरित होकर इन्होंने काव्य-रचना की है, जिसमें काव्य-चमत्कार पूर्ण होते

हुए भी सद्भावनाका बिलकुल अभाव है। ऐसे काव्योंको पढ़नेसे अवश्य ही मनोवृत्ति दूषित होगी, अतएव साधारण जनतामें इनका प्रचार कभी भी इष्ट नहीं है। परन्तु, ये काव्य-कलाकी दृष्टिसे उत्तम हैं, अतएव आजकलके कवियोंको चाहिए कि मनोनिवेश-पूर्वक इनका अध्ययन और मनन करें। देखना चाहिए कि इन पुराने काव्योंमें वाक्य-विन्यास करनेका क्या ढंग है, मनोभाव किस खूबीके साथ अभिव्यक्त किये जाते हैं, इत्यादि। इन सब बातोंकी शिक्षा इनसे लेनी चाहिए और फिर सुविचारपूर्ण सत्काव्य बनानेमें इनका उपयोग करना चाहिए। ऐसा करनेसे उत्तम काव्य बनने लगेंगे। मतलब यह कि इन काव्योंसे भाषा और भावोंके अभिव्यञ्जनका ढंग लेना चाहिए। इनके दूषित भाव लेना ठीक नहीं है। इस प्रकार इनका उपयोग कविजन ही कर सकते हैं। "विषादप्यमृतं ग्राह्यम्।" वस्तुतः केवल यथार्थवादके नामपर ही ये दूषित काव्य बने हैं। यदि उन कवियोंके मनमें आदर्शकी भावना होती, वे समझते कि मनुष्यताका और कविताका आदर्श क्या है, तो कभी भी ऐसे काव्य न बनाते। खैर, जो हुआ सो हुआ। वह समय ही कुछ ऐसा था। पर नहीं, समयका कोई दोष नहीं है। सभी समयोंमें भले-बुरे होते हैं। दोष अपनी वृत्तिका है। उस समय भी जो कवि किसीके आश्रित न थे, या जिनके आश्रयदाता व्यभिचारी और कायर न थे, उनके काव्य सर्वथा इस महादोषसे बचे हुए हैं।

सारांश यह कि झूठे यथार्थवादने बहुत बुराइयाँ फैलाई हैं। अब आगे सावधान रहना चाहिए।

झूठा आदर्शवाद

जिस प्रकार झूठे यथार्थवादसे बचकर चलना कर्तव्य है, उसी प्रकार झूठे आदर्शवादसे भी। यह ठीक है कि झूठे यथार्थवादकी भांति झूठे आदर्शवादसे उतना खतरा नहीं है, लोगोंकी मनोवृत्ति बिगड़नेका इससे डर नहीं है, तो भी व्यर्थ प्रलाप होना सम्भावित है। ऐसा आदर्श काव्यमें उपेक्षणीय है, जो हमसे बिलकुल असम्बद्ध हो, जहाँ किसी भी प्रकार मनुष्यत्वकी पहुँच ही न हो। वस्तुतः ऐसे आदर्शको आदर्श कहना ही भूल है। बस, इस दिशामें इसी बातका ध्यान रखना चाहिए।

सार यह कि यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनोंके उचित रूपमें होनेपर ही उत्तम काव्य बन सकेगा। इन दोनोंका सम्मिश्रण आवश्यक है। आदर्शरहित यथार्थ तथा अव्यवहार्य्य आदर्श किसी कामका नहीं। इस बातका ध्यान रखकर जो काव्य बनेगा, वह सर्वथा उत्तम होगा।

७—साहित्यशास्त्रके नियम

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां,
साहित्य-विद्या-श्रम-वर्जितेषु।
कुर्य्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां,
केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः॥

साहित्य-शास्त्रमें काव्य बनानेके सब ढंग बतलाये जाते हैं और एक प्रकारसे उसकी आलोचना भी रहती है, अतएव कवि और सहृदय दोनोंको ही इस शास्त्रके विशेष अध्ययन और मननकी जरूरत है। और, यों तो सभीको

सामान्य रूपमें इस शास्त्रकी शिक्षा आवश्यक है। कारण, इस शास्त्रमें भाषा-विषयक विविध विचार रहते हैं, जो सभीके लिए अविशेष रूपसे उपयोगी हैं। इस शास्त्रमें इन विषयोंपर विचार किया जाता है:—१ शब्द और अर्थ, २ शब्द-शक्ति, ३ वाक्य-निरूपण, ४ भाषाकी गठन या शैली, ५ भाषाके दोष, ६ भाषाके अलंकार, ७ मनोभाव, ८ गुण, ९ काव्यका लक्षण और भेद आदि। इनके अतिरिक्त किसी किसी साहित्य-ग्रन्थमें नाट्य-कलाका भी विवेचन होता है और विविध रूपकोंके भेद तथा उनके बनानेकी विधि बतलायी जाती है। यद्यपि यह आगे बढ़कर एक स्वतन्त्र शास्त्र बन गया है, जिसे नाट्य-शास्त्र कहते हैं, तो भी काव्य-विशेष होनेके कारण नाटक आदिका संक्षिप्त विचार साहित्य-शास्त्रमें आवश्यक ही है। संस्कृतके साहित्य-ग्रन्थोंमें केवल ' साहित्य-दर्पण ' ही ऐसा है, जिसमें नाट्य-शास्त्रीय विचार खूब अच्छी तरह प्रदर्शित किये गये हैं।

बस, ये ही साहित्य-शास्त्रके विषय हैं। देखिए, कितना महत्त्व इन विषयोंका है। क्या इन विषयोंका परिज्ञान हुए विना किसीको भाषापर पूर्ण अधिकार मिल सकता है? तभी तो कहा है:—

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

बादके साहित्य-ग्रन्थोंमें नायिका-भेद आदि भी वर्णित होने लगे। इस दिशामें संस्कृतका ' साहित्य-दर्पण ' ही सबसे आगे है। हिन्दीमें पहले तो साहित्य-ग्रन्थ वैसे बने ही नहीं और जो बने भी, उनमें केवल नायिका-भेद और उनके नख-शिखका वर्णन ही दृष्टि-गोचर होता है। खेद तो इस

बातका है कि इन ग्रन्थोंकी रचना साहित्य-शास्त्रके नाम-पर हुई ! इनमें साहित्य-शास्त्रीय किसी भी विषयका वर्णन ही नहीं है ! नायिका-भेद कुछ साहित्य-शास्त्रका विषय नहीं है। वह काम-शास्त्रका विषय है। फिर थोड़े बहुत नहीं, तीन-सौ-से भी अधिक नायिकाओंके भेद किये गये हैं ! इन सबके पृथक्-पृथक् लक्षण करके उदाहरण दिये गये हैं ! भला, कहिए तो सही, ये ग्रन्थ साहित्यिक हुए, या कामशास्त्रीय ? जिनमें केवल नायिका-भेदका वर्णन है, उनका तो कहना ही क्या है; किन्तु जिनमें अन्य साहित्यिक विषयोंका विवेचन है, उन्हें भी 'साहित्य-ग्रन्थ' कहनेमें संकोच होता है। मानो नायिका-भेदका साहित्य-जगत्‌में साम्राज्य हो गया !

कहते हैं, सब रसोंमें शृंगार प्रधान है और उसके आल-म्बन-विभाव नायक-नायिकाएँ हैं, अतएव इनका साहित्य-ग्रन्थोंमें वर्णन आवश्यक है ! यह भ्रम-मात्र है। न तो सब रसोंमें शृंगार प्रधान है और न उसके आलम्बन-विभाव होनेके कारण नायिकाओंका ऐसा उच्छृंखल वर्णन साहित्य-शास्त्रमें अपेक्षित ही है। सब रसोंमें प्रधान शृंगार नहीं, वीर है। इसका विवेचन आगे चलकर हम करेंगे।

शृंगार रसके आलम्बन-विभाव होनेके कारण नायिका-ओंका साहित्य-शास्त्रमें ऐसा कुम्भकर्णीय वर्णन करके उसके रूपको विकृत कर देना कभी भी उचित नहीं। माना कि नायक और नायिकाएँ शृंगारके आलम्बन हैं, तो इससे क्या ? यह कोई उत्तर नहीं हुआ। और यदि ऐसा ही है, तो प्रत्येक रसके आलम्बनका विस्तृत वर्णन क्यों नहीं करते ? औरोंने क्या अपराध किया है ? यह भी जाने दीजिए। नायकके उतने सूक्ष्म भेदोपभेद करके विस्तार

क्यों नहीं करते ? क्या नायक शृंगारका आलम्बन-विभाव नहीं है ? यदि है, तो फिर यह दुभाँति क्यों ?

वस्तुतः नायिका-भेद साहित्य-शास्त्रका मुख्य विषय ही नहीं है। इसे तो जबर्दस्ती यहाँ ला खड़ा किया है। यह कुछ आवश्यक नहीं कि किसी रसके आलम्बन-विभावका ऐसा बीहड़ वर्णन किया जाय। सभी रसोंके आलम्बन अपने आप मालूम हो जाते हैं। उनके भेद-प्रभेद करके लक्षण उदाहरण आदि देनेकी जरूरत नहीं। यदि शृंगारकी ही तरह अन्य सभी रसोंके भी आलम्बन इसी प्रकार विस्तारसे, भेदोपभेदसहित, साहित्य-शास्त्रमें वर्णित हों, तो फिर इस शास्त्रकी क्या दशा होगी? फिर यह साहित्य-शास्त्र रहेगा, या चिड़िया-घर बन जायगा ? इस शास्त्रमें तो सिर्फ भाषाविषयक विचार होता है और मनोभावोंका विवेचन, बस। यही इस शास्त्रका विषय है। नायिका-भेदका वर्णन तो आश्रित कवि अपने आश्रय-दाताओंको खुश करनेके लिए—उन्हें व्यभिचारकी शिक्षा देनेके लिए-करने लगे। नायिका-भेदोंके साथ ही उन शोहदोंका भी वर्णन लक्षण-उदाहरण-सहित किया गया, जो व्यभिचारी लोगोंके पास रहते हैं और उन्हें उस कुत्सित काममें मदद देते हैं। इनके नाम 'विट' आदि रखे गये हैं। यही नहीं, उन दूतियोंका-कुट्टिनियोंका-भी खूब पवाँरा बढ़ाया गया है, जो भले घरोंकी बहू बेटियोंको बहका-फुसलाकर इन व्यभिचारियोंकी सेवामें उपस्थित करनेका अचिन्तनीय सामर्थ्य रखती हैं। इन कुट्टिनियोंके लक्षण, उदाहरण और भेद आदि खूब किये गये है। इनमें कौन-कौनसे गुण होने चाहिएँ सो सब भी बतलाया गया है! अभिसारिका (कुलटा) स्त्रियोंके भी खूब गुण गाये गये हैं और यह भी

बतलाया गया है कि इनके अभिसार (व्यभिचार) करनेके स्थान कौन कौन हैं। यह सब गन्दगी जिस ग्रन्थमें हो, उसे साहित्य-शास्त्र कहा जाय, या व्यभिचार-शिक्षा? एक तो वैसे ही लोगोंकी प्रवृत्ति स्वभावतः बुरे कर्म्मोंमें होती है, फिर मिल गया ऐसे साहित्य-शास्त्रों और काव्योंका सहारा! "बरत अनल मानहु घृत परेऊ।" किसीने दुखी होकर कहा है:—

यदा प्रकृत्यैव जनस्य रागिणो
भृशं प्रदीप्तो हृदि मन्मथानलः।
तदाऽत्र भूपः किमनर्थ-पण्डितैः—
कुकाव्य-हव्याहुतयो निवेशिताः॥

पर, "कोई मरे कोई जिए, सुथना घोल बतासे पिये।" इन कवियों और साहित्य-शास्त्रियोंको इससे मतलब क्या कि जनताका नाश हो रहा है कि क्या? उन्हें तो मौज उड़ानेसे मतलब!

वस्तुतः इन अर्वाचीन कवियों और साहित्याचार्य्योंने पवित्र साहित्य-शास्त्रको बदनाम कर दिया, लोगोंको साहित्य-शास्त्रसे ही घृणा हो गयी। वे समझने लगे, इसमें सिवाय नायिकाओंकी चटक-मटकके और रखा ही क्या है? इस प्रकार साहित्य-शास्त्र तथा जनताके ज्ञानकी अवनति और व्यभिचार-वर्द्धन करनेका पुण्य इन लोगोंने लूटा! कोई अंकुश तो था ही नहीं, स्वच्छन्द विहार और साहित्यका संहार!

हाँ, यदि संक्षेपमें नायक-नायिकाके विषयमें चार शब्द उचित रूपमें लिख दिये जायँ, तो कोई क्षति नहीं। पर, सद्भावना और आदर्शका प्राधान्य सब जगह आवश्यक है। इन्हें भुला देना पतनकी ओर झुकना है।

सारांश यह कि पहले हमने भाषा और मनोभावोंसे सम्बन्ध रखनेवाले जो नव या दस विषय बतलाये हैं, वे ही मुख्य साहित्य-शास्त्रके विषय हैं। इनका वर्णन प्राचीन साहित्य-ग्रन्थोंमें है। उनमें नायिका भेद आदिका कुछ भी जिक्र नहीं है। यह सब 'साहित्य-दर्पण'से प्रारम्भ हुआ है। आगे चलकर हिन्दीमें तो इस व्यभिचार-पचड़ेका एकछत्र राज्य हो गया! यह सब कूड़ा–कचरा दूर करके साहित्य-शास्त्रका परिमार्जन कर देना अत्यावश्यक है। आगेके साहित्य-ग्रन्थोंको इन दोषोंसे बचाना चाहिए।

८—मनोभाव

"जयन्ति ते सुकृतिनो रस-सिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये जरा-मरणजं भयम्।"

कह चुके हैं कि सर्वोत्तम कविता वही है, जिसमें कोई मनोभाव सुन्दर रीतिसे अभिव्यक्त हो। मनोभाव अनन्त हैं। इनकी संख्या नियत करना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। फिर भी शास्त्रीय व्यवस्थाके लिए इनकी संख्याका कुछ नियमन किया गया है। साहित्य-शास्त्रमें समस्त मनोभावोंमेंसे मुख्य-मुख्य अलग करके उन्हें 'रस' नाम दिया गया है। रसोंकी संख्या नव अथवा दस है। जो वात्सल्यको पृथक रस मानते हैं, उनके हिसाबसे रस दस हैं। वस्तुतः यही मत ठीक है। इसपर आगे चलकर हम विचार करेंगे। हाँ, तो ये प्रधान मनोभाव हैं, जिन्हें रस कहते हैं। इनके नाम हैं—वीर, करुण, शृंगार, वात्सल्य, हास्य, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके

स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, शोक, रति या दाम्पत्य प्रेम, वत्सलता, हास, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम या उपशम हैं। ये स्थायी भाव ही जब अपने सहचर तथा पोषक भावोंसे पुष्ट होकर काव्यद्वारा अभिव्यक्त होते हैं, तो रस कहलाते हैं। इन प्रधान मनोभावों (रसों) के अतिरिक्त और जो मनोभाव हैं, वे कभी इन्हींका साहचर्य्य करके इनका ही पोषण करते हैं और कभी स्वतन्त्र विचरते हैं। इसी लिए इन भावोंका नाम 'सहचारी भाव' रखा गया है। जब ये इन रसोंका पोषण करते हुए स्वयं अप्रधान रहते हैं, तभी इन्हें 'सहचारी भाव' कहते हैं। परन्तु जब ये स्वयं प्रधान रूपसे अभिव्यक्त होते हैं, तो 'भाव' कहलाते हैं। इसीको 'भाव-ध्वनि' कहते हैं। ये अप्रधान मनोभाव तेतीस हैं:—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जाड्य, उग्रता, विबोध, मोह, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरणप्रायता, आलस्य, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, त्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चापल्य, ग्लानि, चिन्ता और वितर्क। इस प्रकार साहित्य-शास्त्रमें सब मनोभावोंको प्रधान और अप्रधानरूप दो श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। प्रधान मनोभावोंको रस कहते हैं और ये दस हैं। अप्रधान मनोभावोंको सञ्चारी भाव कहते हैं और इनकी संख्या तेतीस है। इन्हीं मनोभावोंके अन्तर्गत प्रायः सब मनोभाव आ जाते हैं। मनोभावोंका यह विभाग पूर्ण दार्शनिक और युक्ति-संगत है। यदि कोई ऐसा मनोभाव हो, जो इनमें अन्तर्भूत न हो सके, तो उसकी संख्या बढ़ सकती है। प्रत्येक शास्त्रमें नयी खोज और आविष्कारके अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ करते हैं। साहित्य-शास्त्रमें

भी यही बात है। एक समय ऐसा था कि कुछ लोग शान्त रसको नाट्यमें स्थान ही न देते थे और न वैसा प्राधान्य ही। कुछ समय बाद शान्तका प्राधान्य स्वीकृत हुआ और नाट्यमें भी उसकी सत्ता स्वीकार की गयी। कभी रस नव ही माने जाते थे, वात्सल्यकी गिनती रसोंमें थी ही नहीं। बादमें वात्सल्य पृथक् रस माना गया और इस प्रकार रसोंकी संख्या दस हो गयी। इसके बाद रसों या सञ्चारी भावोंकी संख्यामें कोई हेर-फेर नहीं हुआ।

साधारण लोग रस नव ही समझा करते हैं और बहुतसे साहित्य-ग्रन्थोंमें लिखा भी ऐसा ही है। कुछ साहित्यिक जन भी रस नव ही बतलाते हैं। इनके मतमें वात्सल्य कोई रस ही नहीं। पुत्रादि-विषयक रतिको ये लोग 'भावों' में रखते हैं। परन्तु, यह दुराग्रहमात्र है। जब कि वात्सल्यमें प्राधान्य है, और अन्य सहचारी भाव उसका पोषण करते हैं, तो कौन उसे रस-पदवी प्राप्त करनेसे मना कर सकता है? जिसमें रसका लक्षण समन्वित हो, वही रस। रसका जो लक्षण किया गया है, उसके अनुसार वात्सल्य रस ठहरता है। चमत्कारकी दृष्टिसे भी वात्सल्यको रस कहनेके लिए बाध्य होना पड़ता है। दाम्पत्य प्रेम यदि काव्यमें अभिव्यक्त होकर शृंगार रसका नाम पाता है, तो कोई कारण नहीं कि परम चमत्कारी 'वात्सल्य' रस न कहा जाय। वात्सल्यमें जो चमत्कार है, सहृदय जन ही जानते हैं। हाँ, रही गुरुराजादि-विषयक रति, सो यह सब अभिव्यक्त होकर 'भाव-ध्वनि' ही कहलाएगी। कारण, और रतियोंमें वह चमत्कार ही नहीं। वात्सल्य प्रेमको 'रति' कहना ठीक भी नहीं। रति तो दाम्पत्य प्रेमको ही कहना ठीक है। गुरुजन-विषयक प्रेमको भी 'रति' कहना अच्छा नहीं।

सब रसोंमें श्रेष्ठ कौन है?

एक प्रश्न साहित्य-जगत्में सदा उठता रहा है-"सब रसोंमें श्रेष्ठ कौन है?" प्रश्न बहुत पुराना होनेपर भी आज तक किसी भी आचार्य्यने इसका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया है। 'भिन्न-रुचिर्हि लोकः' के अनुसार किसीने किसी रसको रसराज माना, तो दूसरेने दूसरेको। इस प्रकार कोई निर्णय न हो सका! निर्णय हो, तो कहाँसे हो? जब कोई सिद्धान्त नहीं, कोई कसौटी नहीं, तो सभी अपने-अपने मनकी हाँकेंगे! जिसे जिस रसमें विशेष आनन्द आया, उसने उसीको रसराज मान लिया! भला, ऐसे कहीं शास्त्रीय निर्णय होते हैं? किसीने कहा अद्भुत रस ही श्रेष्ठ है; क्यों कि:—

> रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
> तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।

चलो छुट्टी मिली! सब रसोंमें सार चमत्कार ही है और वह अद्भुत ही है, अतएव अद्भुत ही एक मात्र रस है। नव या दस रस नहीं हैं! इससे बढ़कर और अनन्य उपासना तथा वकालत क्या होगी! जब और रसोंका अस्तित्व ही मिट गया, तो अपने-आप अद्भुतका साम्राज्य है! ऐसा कहनेवालोंकी बातपर कुछ विशेष विचार कहनेकी जरूरत ही नहीं; क्योंकि यह अद्भुत रसकी बात है! यहाँ सब कुछ अद्भुत ही है! इन लोगोंकी समझमें यह बात नहीं आयी कि अद्भुतत्व और बात है, चमत्कार और। चमत्कार अद्भुतमें भी होता है और करुण आदि अन्य रसोंमें भी। किन्तु करुण आदि रसोंमें

जो चमत्कार होता है, उसे 'अद्भुत' कभी भी नहीं कहा जा सकता। इन रसोंके स्वरूपोंमें और चमत्कारोंमें स्वरूपतः बड़ा अन्तर है, उतना ही अन्तर, जितना इनके आस्वादमें। तब भला कौन विचारशील कहनेको तैयार होगा कि सब रसोंमें जो चमत्कार है, वह अद्भुत रसका ही है अतएव सब जगह अद्भुत रस ही है अन्य कोई रस है ही नहीं? सब रसोंमें अद्भुत चमत्कार होता है, ऐसा कहनेसे यह न समझना चाहिए कि यहाँ अद्भुत शब्दका अर्थ वह रस है, जिसका स्थायी भाव 'विस्मय' है। यहाँ अद्भुत शब्दका अर्थ है—अनुपम, अलौकिक, जिसका अनुभव अन्यत्र न हुआ हो। ऐसे प्रयोगोंमें आये हुए 'अद्भुत' शब्दका अर्थ रस-विशेष समझकर उसीका ढिंढोरा पीटने लगना, बुद्धिमानी नहीं है।

सारांश यह कि अद्भुतको सर्वश्रेष्ठ रस बतलानेवालोंकी दलील किसी कामकी नहीं है। जान पड़ता है 'अद्भुत' शब्दके अर्थमें भ्रम हो जानेके कारण ही ऐसे विचारोंकी सृष्टि हुई है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो करुणको ही सर्वश्रेष्ठ रस और सबमें व्याप्त बतलाते हैं। ये लोग भी कोई सिद्धान्त नहीं रखते। करुणमें आनन्दोपलब्धि अधिक हुई कि बस, उसीको 'रसराज' कहने लगे। ऐसे पुरुष आदिकविका यह आविष्पद्य आगे रखा करते हैं:—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

कहते हैं, आदि-कविके मुखसे सर्व-प्रथम यह करुण-प्रधान पद्य निकला है, अतएव करुण ही सब रसोंका सिर-

राज है और स्वाभाविक भी यही है। इसपर विचार कीजिए।

करुण रसकी कविता सबसे पहले हुई, अतएव यह रस सर्व-श्रेष्ठ है, यह कोई युक्ति-संगत बात नहीं है। किसी वस्तु या सिद्धान्तका पहले पैदा होना ही उसकी श्रेष्ठताकी कसौटी कभी हो नहीं सकती, इसे कोई भी बुद्धि रखनेवाला अस्वीकार न करेगा। इसलिए कोई हेतु न होनेके कारण करुणको रस-राज कहना उचित नहीं।

साहित्य-जगतका एक बड़ा भाग शृंगार रसको ही सबसे ऊँचे सिंहासनपर बैठाकर इसे ही रसराज मानता है। यही पक्ष जबर्दस्त है—इसी की अधिकता है। संस्कृत और हिन्दी ही नहीं, संसारकी प्रायः सभी भाषाओंके साहित्यमें इस दलकी अधिकता है। संस्कृतमें तो शृंगारको रस-राज सिद्ध करनेके लिए कई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रसिकोंने बनाये। ये लोग अपने पक्षका समर्थन करनेके लिए ये हेतु देते हैं:—

(१) शृंगारका स्थायी भाव ही ऐसा उत्कृष्ट है कि वह उसे रसराजकी पदवी देनेमें पूर्ण सक्षम है।

(२) जिस रसमें जितने अधिक सञ्चारी भावोंका सन्निवेश हो, वह उतना ही उत्तम समझा जायगा। शृंगारमें ही सबसे अधिक सञ्चारी पाये जाते हैं, अतः यही रस-राज है।

इन दोनों हेतुओंपर विचार करनेसे मालूम होगा कि वस्तुतः ये भी हेतु नहीं, कोरे हेत्वाभास हैं। यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि शृंगारका स्थायी भाव (दाम्पत्य रति) ही सबसे श्रेष्ठ है। लोकमें चाहे कोई रतिको सर्व-श्रेष्ठ मान भी ले, किन्तु काव्य-जगत्में आकर जब वह एक रसका स्थायी भाव बन जायगी, तो फिर उसे

कोई भी साहित्यवेत्ता वैसा नहीं कह सकता। काव्य-जगत्में लौकिक वृत्तिका, इस विषयमें, कभी भी अनुसरण नहीं किया जा सकता। अन्यथा, बीभत्सका स्थायी भाव जुगुप्सा कभी और किसी भी तरह रमणीयता पा ही न सकेगा। तब फिर बीभत्सको कौन रस कह सकेगा? कारण, उसके स्थायी भावके तादृश होनेके कारण उसमें भी वही बात रहेगी! ऐसी दशामें वह परमाह्लादकत्व, जो रसका सर्वस्व है, बीभत्समें मिलनेका नहीं। तब फिर उसे रस कैसे कहा जायगा? इस लिए, लोगोंको इस बातपर ध्यान देकर, वैसा कभी न कहना चाहिए। वैसा कहना अशास्त्रीय और युक्ति-विरुद्ध है।

अब रही दूसरी बात। सो, वह भी ठीक नहीं। संचारी भावोंकी अधिकताका तारतम्य कभी भी किसी रसके उत्कर्षापकर्षका हेतु नहीं बन सकता। ऐसा कहनेमें न तो कोई प्रमाण है और न युक्ति ही। और, यह भी कहना बिलकुल गलत है कि शृंगारमें अन्य सब रसोंसे अधिक सञ्चारी भाव हैं। परन्तु, यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तो भी पक्ष समर्थित नहीं होता।

यदि कहा जाय कि शृंगारमें सौन्दर्य्य अथवा आनन्दातिरेककी मात्रा सबसे अधिक होनेके कारण यह रसराज है, तो भी ठीक नहीं। उपर्य्युक्त सौन्दर्य तथा आनन्दातिरेककी सामग्री सब रसोंमें है और उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं। सब रस आस्वादमें समान हैं। हाँ, यह बात और है कि अपनी रुचिके कारण किसीको कोई रस अधिक आनन्दप्रद प्रतीत हो और किसीको दूसरा कोई। यह तो रुचि-भेद है, जो रसोंकी श्रेष्ठताका नियामक हो नहीं सकता। किसीको शृंगारमें अधिक आनन्द मिलता है, तो दूसरेको करुणमें, तीसरेको अद्भुतमें। ऐसी दशामें यह नहा कहा

जा सकता कि अमुक रसमें ही सबसे अधिक आनन्दातिरेक की सामग्री होनेसे वही सर्व-श्रेष्ठ है।

अच्छा, तो अब प्रश्न यह है कि फिर कौन रस सर्व-श्रेष्ठ है? और इसे परखनेकी क्या कसौटी है? सुनिए; हम पहले कह आये हैं कि किसी वस्तुका उत्कर्ष निर्णय करनेके लिए जगत्‌में दो ही कसौटियाँ हैं--१ सौन्दर्य्य और २ उपयोग। इनमेंसे सौन्दर्य्य तो यहाँ निर्णय करनेमें काम दे ही नहीं सकता; क्यों कि सभी रस समान सुन्दर हैं। रही उपयोगिता; सो यही यहाँ पूरी और पक्की कसौटी ठहरती है। इस कसौटीपर कसनेसे वीर रसको ही वह पद मिल सकता है, जिसके लिए शृंगार आदि लपकते हैं। वीरका स्थायी भाव है, उत्साह। उत्साहकी उपयोगिताके विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। प्रत्यक्ष बातको सिद्ध करनेके लिए कुछ कहनेकी अधिक आवश्यकता नहीं होती। अतएव वीर ही रस-राज है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

आश्चर्य्यकी बात है कि सभी भाषाओंके साहित्यमें पहले प्रायः वीर रसकी ही उपासना दृष्टिगोचर होती है।

प्रत्येक भाषाके साहित्यमें वीर-काव्यका सृजन पहले हुआ है। संस्कृतके महाभारत और रामायण वीर-रस-प्रधान हैं। रामायण संस्कृतका आदि-काव्य है। हिन्दीमें भी पहले वीर-रूपमें ही काव्यका अवतार हुआ है।

जीवन-युद्धमें विजय पानेके लिए उत्साह ही एक मात्र साधन है और यह (उत्साह) जिस रसका स्थायी भाव हो, यदि उसे रसराज न कहा जाय, तो और किसे कहा जाय? क्या उत्साहकी तरह रति आदि भी जीवन दे सकनेमें समर्थ हैं?

सारांश यह कि वीर रस सर्व-श्रेष्ठ है; क्यों कि इसका स्थायी भाव 'उत्साह' है। यही रस-राज है।

९–रसाभास और भावाभास

पिछले प्रकरणमें रस और भावके प्रकरणमें थोड़ासा लिखा गया है। इनमेंसे किसीका भी अभिव्यञ्जन औचित्य-पूर्वक ही होना चाहिए। अनौचित्यका सम्पर्क होते ही रस भी विष बन जाता है ! ऐसी दशामें उसे रस कौन कहेगा ? यदि किसी मिठाईमें कोई अनुचित वस्तु मिला दी जाय, अथवा उसपर मक्खियाँ भिन-भिनाती हों, तो वह सहृद-योंको आनन्दप्रद न रहेगी। अच्छे आदमी कभी भी ऐसी मिठाईको अच्छी न बतलायेंगे। यही बात काव्य-रसोंमें है।

जिस रस या भावमें कुछ अनौचित्य होगा, वह विकृत होकर अपने स्वरूपका अभासमात्र रह जायगा। ऐसे अनौ-चित्य-संवलित रसको रसाभास और भावको भावाभास कहते हैं। सब साहित्य-ग्रन्थोंमें यही बात लिखी है। अतएव प्रत्येक कविको अनौचित्यसे बचनेकी सतत चेष्टा करनी चाहिए।

क्या औचित्य है और क्या अनौचित्य, इसका निर्णय लोक और शास्त्रसे अपना अनुभव तथा ज्ञानके सहारे, किया जाता है। जो बात लोक तथा शास्त्रके विरुद्ध है, उसे कभी स्वीकार करना ठीक नहीं है।

शृंगार रस आनन्द-प्रद है; किन्तु कोई भी सहृदय अपने माता-पिताका शृंगार न तो वर्णन ही कर सकता है और न सुनेगा ही। इसमें प्रत्यक्ष अनौचित्य है। इसी प्रकार इष्ट-देवका ऐसा उच्छृंखल शृंगार वर्णन करना अनुचित है, जिसमें अनुभावोंका बिलकुल खुलासा हो। यही कारण है कि कालिदासके 'कुमार–सम्भव' और जयदेवके 'गीत–गोविन्द' में रस नहीं, शृंगार नहीं, रसाभास अर्थात् शृंगारा-

भास है। जिन्हें 'जगतः पितरौ' कहा, फिर उन्हींका वैसा वर्णन कहाँ तक उचित है? अवश्य ही इन काव्योंमें सभी काव्य-चमत्कार पूर्णमात्रामें मौजूद हैं, तो भी शिष्ट सहृदयोंके चित्तको वे उद्वेजक हैं। कारण, उनमें वह अनौचित्य कूट-कूट-कर भरा है, जो रसको विष (रसाभास) बना देता है।

दुनियामें प्रसिद्ध उपर्य्युक्त, दोनों काव्योंके विषयमें जो कुछ हमने लिखा है, उसे देखकर पाठक आश्चर्य्यमें न पड़ें और यह भी न कहें कि एक यही कहाँसे काव्य-मर्मज्ञ आज नया पैदा हो गया, जो ऐसे काव्योंमें भी रसाभास बतलाने लगा। सैकड़ों बरस पहले साहित्यके जो परमाचार्य्य हुए हैं, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है। आचार्य्य मम्मटने 'काव्य-प्रकाश' में 'कुमार-सम्भव' की रसाभासता स्वीकार की है और पण्डितेन्द्र जगन्नाथने अपने 'रस-गंगाधर' में जयदेवके 'गीत-गोविन्द' में अनौचित्य सिद्ध किया है। और इसमें साक्षी-प्रमाणकी जरूरत भी क्या है? अपना अनुभव ही सब बतला देता है। दुराग्रह छोड़कर सोचनेसे सब मालूम हो जायगा।

इसी प्रकार हिन्दीमें बिहारी आदिके काव्योंमें प्रायः रसाभास भरा पड़ा है। उनमें कितना अनौचित्य है, पढ़ते ही मालूम हो जाता है। रचना सर्वथा उत्कृष्ट होनेपर भी अनौचित्यके कारण उनका महत्त्व गिर जाता है। जिससे स्वास्थ्यको धक्का लगे, उस मिठाईको खानेके लिए कोई विचारशील उत्सुक न होगा। इसलिए प्रत्येक कारीगरको औचित्यपर ध्यान सदा रखना चाहिए।

जिन काव्योंसे जनताकी चित्तवृत्ति कुत्सित मार्गमें प्रवृत्त होती है, उन्हें अवश्य अनुचित काव्य कहा जायगा, क्योंकि

उनमें जो रस या भाव हैं, अवश्य दूषित हैं, अतः रस नहीं वे रसाभास हैं और भाव नहीं भावाभास हैं।

यह हो नहीं सकता कि किसी काव्यके पढ़नेपर उसके भावोंका चित्तपर कुछ प्रभाव न पड़े। भला-बुरा प्रभाव जरूर पड़ता है, अतएव चेष्टा करना आवश्यक है कि पाठकके मनपर बुरा प्रभाव न पड़े। इसके लिए अपनी कलाको अनौचित्यसे सदा बचाये रखना चाहिए।

१०—रीति या शैली

रचनाके प्रकार-विशेषका नाम रीति है, जिसे आजकल शैली कहते हैं। यों तो भिन्न-भिन्न रचयिताओंकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न होनेसे रीतिकी कोई संख्या ठीक-ठीक निर्दिष्ट की ही नहीं जा सकती है: क्यों कि जितने रचयिता होंगे, सबकी रचनाओंके संगठनमें कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होगी, जिसके आश्रयसे भेद कल्पित किये जाते हैं: फिर भी, मोटे तौरपर रचनाके विशेष भेद साहित्यके आचार्योंने तीन किये हैं। इन तीन प्रकारकी रचनाओंमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है। इन रीतियोंके नाम हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। रीतिके इन तीनों भेदोंके विषयमें विशेष कुछ बतलानेके पहले हमें उसका सामान्य स्वरूप समझ लेना अत्यावश्यक है।

'साहित्य-दर्पण'में लिखा है:—

"पद-संघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्"

अर्थात् पदोंके गठनको रीति कहते हैं। जैसे हम लोगोंका शरीर-गठन, वैसे ही काव्य-शरीर रूप भाषाके

अङ्गभूत पदोंका गठन होता है। इसे ही रीति कहते हैं। हम लोगोंमेंसे किसीका शरीर-गठन ऐसा होता है, जिससे शरीरीके सौम्य–स्वभावका पता चलता है, किसीका गठन क्रोध-शीलताका व्यञ्जक होता है और किसीका विनोद-प्रियताका। इसी प्रकार भाषाके गठनसे भी माधुर्य्य, ओज अथवा प्रसाद गुणका अभिव्यञ्जन होता है। इन गुणोंका वर्णन आगे करेंगे।

प्राचीनोंने रीतिके चार भेद किये हैं। तीनके नाम हमने ऊपर लिखे हैं, उनके अतिरिक्त एक और 'लाटी' रीति है। वस्तुतः इस 'लाटी' नामक भेदकी कोई जरूरत नहीं और न इसका इन तीनोंसे अतिरिक्त अस्तित्व ही है। इस चौथी रीतिका प्रतिपादन 'गतानुगतिकत्व' से ही लोग करते आये हैं। मालूम होता है, इधर किसीने सोचनेकी कष्टानुभूति ही नहीं की। इस चौथी रीतिकी क्यों जरूरत नहीं है, इसका खण्डन हम क्यों करते हैं, यह बात आगे स्पष्ट हो जायगी, जब कि इन तीनों रीतियोंका स्वरूप हम बतलावेंगे।

ऊपर हमने जो तीनों रीतियोंके नाम दिये हैं, वे किसी समय देश-नामोंके अनुसार रखे गये थे। जिस देश या प्रान्तमें जैसी रचना करनेकी चाल अधिक हुई, उसका नाम उसी प्रान्तके नामपर पड़ गया। बंगालका पुराना नाम गौड़, पंजाबका पाञ्चाल और बरारका विदर्भ है। इन्हींके नामोंपर तीनों रीतियोंके नाम रखे गये हैं। परन्तु अब हम यदि उन देशकृत नामोंको छोड़कर उनके स्वाभाविक नामोंके अनुसार उनको अभिहित करें, तो अधिक अच्छा हो। कारण, जिन प्रान्तोंके अनुसार इनके नाम पड़े हैं, उनमें अब तो खास तौरपर वैसी रचना होती ही नहीं। दूसरे उनका नाम स्वरूपके अनुसार होनेसे खुलासा भी अधिक

हो जाता है। यों हम वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चालीको क्रमसे कोमला, जटिला या परुषा और सामान्या कहें, तो अधिक अच्छा हो।

जिस रचनामें माधुर्य्य-व्यञ्जक श्रवण-सुखद मधुर शब्द अधिकतासे हों, समास आदि वृत्तियाँ प्रायः नहींके बराबर हों—समास आदि बिलकुल न हों और यदि हों भी, तो बिलकुल हलके और कम,—रचना भी ललित हो, अर्थात् उद्देश्य-विधेय आदिके स्वरूप विशेषण आदिके द्वारा बहुत बढ़ा न दिये जायँ और न गाड़ी-भर वाक्यांश ही एक वाक्यमें रख दिये जायं, उस रीति या शैलीका नाम वैदर्भी है। इसे ही हम 'कोमल' कहना पसन्द करते हैं।

गौडी रीतिके लिए लिखा है:—

"ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समास–बहुला गौडी।"

अर्थात् जिस रचनामें ओज गुणके प्रकाशक कर्णकटु शब्द अधिक हों, जिसमें शब्दाडम्बर बहुत अधिक हो और लम्बे लम्बे बीहड़ समास हों तथा अनेक प्रकारके विचित्र वाक्यांशोंके द्वारा वाक्य जटिल कर दिये गये हों, उसे गौडी रीति कहते हैं। इसी रीतिको 'परुषा' या 'जटिला' कह सकते हैं।

पाञ्चाली रीति इन दोनों रीतियोंकी मध्यवर्ती है, जिसमें पद न तो अधिक मधुर ही हों और न कठोर ही। समास भी हों किन्तु गौड़ीके समान बहुत नहीं, और वाक्यकी जटिलता भी सामान्य हो, उसे 'पाञ्चाली' रीति कहते हैं। इसीको हम 'सामान्या' कहना चाहते हैं।

कोमलासे ' माधुर्य्य, ' परुषासे ' ओज ' और सामान्यासे प्रायः ' प्रसाद ' गुण झलकता है।

इस प्रकार इन रीतियोंका स्वरूप हुआ। अब आप सोचिए कि उस चौथी ' लाटी ' रीतिकी गुंजायश कहाँ है? इस रीतिके लक्षणमें लिखा है:—

" लाटी तु रीतिर्वैदर्भी-पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता। "

अर्थात् ' लाटी ' रीति वैदर्भी और पाञ्चालीके बीचकी है किन्तु, यह निरी विडम्बना है। ' पाञ्चाली ' तो स्वयं ' गौडी ' और ' वैदर्भी ' के बीचकी है।

किसी भी कुशल लेखकको रीति-विशेषका ही होकर न रह जाना चाहिए। चतुर लेखक या कवि वही समझा जायगा, जो यथावसर इन तीनों रीतियोंके अनुसार रचना करनेमें समर्थ हो। जहाँ परुष रचनाकी जरूरत है, वहाँ यदि कोमल कर दी जायगी, तो सहृदय-समाजमें उपहासकी सामग्री बनेगी। इसी प्रकार कोमल रचनाके स्थानपर परुष रचना अपने रचयिताके अज्ञान या असामर्थ्यकी सूचक होगी।

करुण और शृंगार आदि कोमल रसोंके या दैन्य आदि भावोंके वर्णनमें कोमल रचना आवश्यक है। क्रोधादिके प्रदर्शनमें रचना परुष करनी चाहिए। और सामान्यतः सामान्य रचना ही उपादेय है।

इसके अतिरिक्त वक्ता आदिके कारण भी रचनामें परिवर्तन होता है। मान लो, प्रसन्नताका वर्णन है, कोई खुश-खबरी सुनाना है; किन्तु सुनानेवाले हैं भीम या कुम्भकर्ण! तो ऐसी जगह वक्ताका ध्यान करके रचना जटिल और परुष करनी होगी, तभी अच्छी लगेगी। यद्यपि प्रसन्नताका वर्णन

मधुर या सामान्य रचनाद्वारा होना आवश्यक है, किन्तु अन्यत्र, जहाँ वक्ता कोई भीम जैसा न हो। जब ऐसा—भीम-सदृश—कोई कहनेवाला होगा, तो हर्ष-संवाद भी उसके मुखसे उसी सहज भीषण और कर्कश स्वरमें निकलेगा। इसी प्रकार और और जगह समझना चाहिए।

कहीं कहीं प्रबन्ध-विशेषके कारण भी रचनाका नियमन होता है; जैसे नाटक आदि दृश्य काव्योंमें, क्रोधादिके वर्णनमें भी, लम्बे लम्बे समासोंवाली जटिल रचना नहीं की जाती। ऐसे वाक्योंका प्रयोग साधारण बोल-चालमें इस लिए नहीं होता कि कहने-सुननेवालोंको कहने-सुनने और समझनेमें सुभीता हो। दृश्य काव्य नाटक आदिमें यदि लम्बे लम्बे वाक्य रखे जायँ, तो बड़ी असुविधा हो और अस्वाभाविकता जान पड़े। बोल-चालमें छोटे छोटे वाक्य ही उपयुक्त होते हैं।

इसी तरह देश-काल, परिस्थिति और वक्ता तथा विषयके अनुसार रचनामें भेद करना आवश्यक है।

मधुर वर्ण उन्हें कहते हैं, जो सुननेमें कर्कश न होकर सुखद हों। ट वर्गके आद्य चार अक्षरोंको छोड़कर शेष वर्गीय अक्षर अनुस्वार या अपने अपने वर्गके अन्तिम अक्षरसे संयुक्त होकर मधुर ध्वनि देते हैं। ह्रस्व 'र' और 'ण' भी मधुर हैं।

ट वर्गके आद्य चार अक्षर और 'श' तथा 'ष' सुननेमें कठोर हैं। इसी प्रकार किसी भी वर्गके पहले अक्षरके साथ उसी वर्गका दूसरा अथवा तीसरेके साथ चौथा अक्षर संयुक्त हो, तो कठोर ध्वनि देता है। जिन अक्षरोंके ऊपर या नीचे अथवा दोनों जगह 'र' हो, वे भी कठोर हैं। यही कारण है कि हिन्दीके युद्धादि-वर्णनमें ऐसे संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग अधिक

मिलता है। इन दोनों विशेषताओंसे रहित वर्ण सामान्य हैं। वे न तो बहुत मधुर हैं और न कठोर।

इस प्रकार समय समयपर विविध रचनाओंके द्वारा कवि अमर होते हैं।

११—गुण

रीतियोंकी तरह गुण भी तीन हैं—माधुर्य्य, ओज और प्रसाद। इन गुणोंका सम्बन्ध रसों या मनोभावोंसे है, अतएव उन्हींके कहलाते हैं। इनका अभिव्यञ्जन रचना-विशेषसे होता है। ये तीनों गुण रसोंके उत्कर्षको बढ़ाते हैं। माधुर्य्यसे करुण शृंगार आदि कोमल, ओजसे वीर रौद्रआदि तीव्र और प्रसाद गुणसे अन्य विभिन्न रसोंका उत्कर्ष होता है। इसके अतिरिक्त प्रसाद सभी कोमल और तीव्र रसोंमें आवश्यकतानुसार रहता है। कहा भी है:—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।"

माधुर्य्य गुणका व्यञ्जन कोमला वृत्तिसे और ओजका परुषासे होता है। प्रसादकी अभिव्यक्ति प्रायः ऐसी रचनासे होती है, जिसका अर्थ देखते ही समझमें आ जाय, जो जटिल और दुरूह न हो। चित्तके विस्ताररूपी प्रकाशको ओज कहते हैं और चित्तके द्रवीभावको 'माधुर्य्य' कहा गया है।

जो उत्तम रचना करनेके इच्छुक हैं, उन्हें इन गुणोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिए। किस समय कैसी रचना और किस गुणकी आवश्यकता है, यह देखते रहना और तदनु-

रूप चेष्टा करना कुशल कलाकारका काम है। पीछे लिखी रीतियोंका और इन गुणोंका ध्यान न रखकर जो रचना होगी, वह किसी कामकी न होगी।

वस्तुतः गुण, रीति और अलंकार तथा दोष आदिकोंका ज्ञान प्रसिद्ध साहित्य-ग्रन्थोंके द्वारा सम्पादन करके ही किसी रचनामें प्रवृत्त होना चाहिए। यह कोई वैसा ग्रन्थ नहीं है। इसमें तो सिर्फ यह बतलाया जा रहा है कि साहित्य-शास्त्रमें कौन कौनसे विषय वर्णित होते हैं और उनकी कहाँ कितनी जरूरत है।

यह बात ठीक है कि काव्य पहले बनता है और उसकी आलोचना या लक्षण-शास्त्र बादमें: ठीक उसी प्रकार, जैसे भाषा पहले बनती है और उसका व्याकरण अनन्तर। परन्तु, अनन्तर उत्पन्न होनेपर भी व्याकरण कालान्तरमें अपनी भाषाका शासन करने लगता है। इसी प्रकार काव्य-निर्माणके अनन्तर ही उसकी आलोचना-स्वरूप साहित्य-शास्त्रकी उत्पत्ति होती है और फिर वही उसका शासक बन जाता है—साहित्य-शास्त्र काव्यका नियमन करने लगता है। यही बात सब जगह है। देश अपने राष्ट्र-पतिको चुनता है। फिर देशका बनाया हुआ वह राष्ट्र-पति उसी देशपर शासन करता है और समस्त देशवासी उसकी आज्ञाका पालन करते हैं—उन्हें ऐसा करना पड़ता है। धर्म्मशास्त्रको ही लीजिए। यह शास्त्र है क्या चीज? आद्य शिष्ट-समाजद्वारा अनुष्ठित और अनुमोदित कार्य्य-कलापों तथा भावनाओंका विशदी-करण। पहलेके सत्पुरुषोंने जो किया, या जिसे करना अच्छा समझा, उसकी परीक्षा और आलोचना बादके लोगोंने की। उन सब बातोंको अच्छा हितकर समझकर

उन्हें लेखबद्ध कर दिया गया—उनके आधारपर बड़े-बड़े नियम बना दिये गये। फिर सब लोगोंका नियन्त्रण या अनुशासन यह धर्म्म-शास्त्र ही करता है। कोई इसकी अवहेलना करनेका साहस नहीं करता, जो करता है, दण्ड्य होता है।

साहित्य-शास्त्रकी भी यही बात है। विविध काव्योंके बन जानेपर उन्हींके आधारपर इस शास्त्रकी उत्पत्ति होती है। फिर यह समस्त काव्य-जगत्का शासन करता है। जो इसका अनुशासन मानकर चलता है, उसकी प्रतिष्ठा होती है, जो इसकी अवहेलना करता है, दण्ड पाता है—उसकी रचना उत्तम न होनेके कारण मान नहीं पाती। जिसकी कृति सहृदय-समाजमें मान न पावे, उसे इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा ?

यह बात और है कि समय-समयपर विशेष अनुसन्धानों और विचारोंके कारण प्रत्येक शास्त्रमें परिवर्तन और परिवर्द्धन आदि होते रहते हैं, जो ठीक ही है। साहित्य-शास्त्रमें भी ऐसा सदा होता रहा है और होता रहेगा। किसीको इस विषयकी कोई नयी बात सूझे, तो अहोभाग्य है। साहित्य-शास्त्रमें उसकी वह खोज अवश्य सम्मिलित कर ली जायगी। परन्तु बिना देखे-भाले या सोच-विचारके बिना ही कोई कुछ कहने लगे और इधरसे आँखें मूँदकर उधर कवि बननेकी चेष्टा करने लगे, तो उसे विचार-शील सज्जन क्या कहेंगे ?

सारांश यह कि गुण आदिका स्वरूप जानना कविके लिए आवश्यक है।

१२—अलंकारोंका उपयोग

हम कह आये हैं कि उत्तम काव्यमें भाव-व्यञ्जनाकी ही प्रधानता स्वीकार है। भाव मुख्य है और भाषा गौण। परन्तु भावोंका उत्कर्ष बढ़ानेके लिए भाषाका सुन्दर होना अत्यावश्यक है। जिस महापुरुषके भाव भी अच्छे हों और शरीर भी स्वस्थ तथा सुन्दर हो, उसके विषयमें सोनेमें सुगन्धवाली बात कही जायगी। इसी प्रकार काव्यके भावोंके साथ उसके शरीर—शब्द और अर्थ—के भी सुन्दर होनेपर कहना ही क्या है! वस्तुतः भावोंके अनुसार ही भाषा चाहिए। यदि भाव कोमल हैं, तो भाषा कोमल, और भावोंमें तीव्रता है तो भाषामें भी तीव्रता चाहिए। जो पुरुष कहीं व्यायाम और मल्ल-विद्याका उपदेश देता हो, उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ और 'व्यायाम-दृढ़' चाहिए। ऐसा होने ही पर उसके उपदेशमें आनन्द आयेगा और प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत यदि वह शिथिल-गात्र और क्षीण-क्षाम हुआ, तो वह बात न रहेगी। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। काव्यमें भी भावोंके अनुसार भाषाकी जरूरत है, यह बात अभी पीछे 'रीति-निरूपण' में बतला चुके हैं।

भावोंके अनुसार रचना होना तो आवश्यक है ही, जैसे विचारोंके अनुसार शरीर। साथ ही शरीरकी सजावट और वेष-भूषा भी उसी प्रकारकी चाहिए। एक तपस्वी पुरुष जब संसारकी अनित्यताका उपदेश कर रहा हो, तो उसका वेष उसके अनुरूप ही कौपीन-धारीके रूपमें होना चाहिए। ऐसी दशामें वह कौपीन ही उसका अलंकार है। जिस पुरुषका विवाह होनेको है, उस (दूलह) की सजावट उसके अनुसार ही होनी चाहिए। एक पहलवानके शरीरमें अखा-

ड़ेकी मिट्टी ही पुती हुई भली मालूम होती है—उसका वही अलंकार है। कहनेका मतलब यह कि भावोंके अनुसार भाषा—रचना या शब्द-गठन—तथा उसकी सजावट आवश्यक है। ठीक सजावट होनेसे भावोंका उत्कर्ष बढ़ जाता है। इस प्रकार रचनाको अलंकृत करनेके लिए जो विशेषताएँ हैं, उन्हींका नाम साहित्य-शास्त्रमें 'अलंकार' है। कहना न होगा कि इन अलंकारोंसे भावोंका क्या और कितना उत्कर्ष बढ़ता है। खेद है, आज-कलके कुछ नवीन कवि अलंकारोंके नामसे चिढ़ते हैं, मुँह बनाते हैं। क्यों ? ज्ञान न होनेके कारण। जो जिसे जानता नहीं उसका आदर ही वह क्या और क्यों करेगा? ठीक भी है—' जाने बिन न होइ परतीती-बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।" हमें विश्वास है कि एक बार जो अलंकारका स्वरूप जान लेगा, वह इनका पक्का हिमायती बन जायगा। वस्तुतः अलंकार-विहीन कविता बिलकुल बेमजे मालूम होती है। यह बात और है कि कहाँ, कैसे और कितने अलंकारोंकी जरूरत है। यह तो भावोंपर निर्भर है। यह भी ठीक है कि जहाँ कोई उत्कृष्ट भाव-व्यञ्जना हो, वहाँ वैसे बड़े बड़े और अधिक अलंकारोंकी आवश्यकता नहीं, यही नहीं, किन्तु ऐसी दशामें यह दोषावह भी है। ऐसे भावमय काव्यमें तो एकाध हलका बढ़िया अलंकार ही चाहिए, जो उस भावका उत्कर्ष करनेमें सहायक हो। परन्तु, अलंकारसे शोभा अवश्य बढ़ जाती है। इसमें सिर्फ अवस्था आदिका ध्यान रखना आवश्यक है।

हमारे कहनेका मतलब यही है कि भावोंका उत्कर्ष बढ़ानेके लिए अलंकारोंकी आवश्यकता है और जहाँ कोई वैसा भाव व्यंज्य न हो, वहाँ तो उनकी अनिवार्य्य आवश्यकता है।

काव्यका शरीर भाषा है और भाषाको ही अलंकार सजाते हैं। भाषाके दो भाग हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्य भागको शब्द और आन्तरको अर्थ कहते हैं। भाषाके इन दोनों भागोंके लिए पृथक्-पृथक् अलंकार हैं। जो अलंकार शब्दोंमें चमत्कार पैदा करते हैं और उन्हींके अधीन अपनी स्थिति-प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें शब्दालंकार कहते हैं। जो अर्थके अधीन रहकर उसे ही अलंकृत करते हैं, वे अर्थालंकार कहलाते हैं।

शब्दालंकार शब्द-मैत्री या उच्चारण-सादृश्यपर अवलम्बित हैं। इनकी संख्या बिलकुल कम है। अर्थालंकारोंकी संख्या बहुत अधिक है—सौसे ऊपर। इनकी सृष्टि कई तरहसे हुई है—इनकी उत्पत्तिके कई कारण हैं, जिनमें उन अलंकारोंकी प्रधानता है, जो सादृश्य-मूलक अथवा कार्य्यकारण-मूलक हैं। सादृश्य-मूलक अलंकारोंमें प्रधान 'उपमा' है। वस्तुतः यह उपमा ही विविध पोशाकें पहनकर—वेष बदल बदलकर—रूपक आदि सभी सादृश्य-मूलक अलंकार कहलाती है। इसका यह रूप-परिवर्तन बड़ा मनोरंजक है। अलंकारोंसे चित्त खूब प्रसन्न होता है। अपनी-अपनी रुचिकी बात है, किसीको कैसे ही अलंकार अच्छे लगते हैं, किसीको कैसे ही।

हाँ, तो कवि या सामान्य लेखकके लिए काव्यालंकारोंका जानना और उनसे अपनी रचना अलंकृत करना सौभाग्यकी बात है।

अलंकारोंके कुछ दोष भी हैं, जिनका शब्दार्थ-दोषोंमें अन्तर्भाव है। इन दोषोंका स्वरूप जानना भी परमावश्यक है; अन्यथा किया-कराया चौपट हो जानेका डर है। वस्तुतः लेखकको चाहिए कि वह अलंकार यदि अपनी रचनामें न

ला सके, तो जाने दे; पर दोषोंसे सदा सावधान रहे। आगेके प्रकरणमें दोषोंका सामान्य परिचय हम देंगे।

जहाँ कोई उत्कृष्ट रस या भाव व्यंग्य हो, वहाँ अलंकारोंकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। यही नहीं, प्रत्युत ऐसे स्थलोंमें बड़े-बड़े भारी और संख्यामें अधिक अलंकारोंका देना दोष माना गया है। कारण यह है कि उस प्रकारकी भावमयी रचनामें बड़े बड़े और अधिक अलंकार रसास्वादमें विघ्न-स्वरूप मालूम होंगे—सहृदयका मन इन अलंकारोंकी झंझटमें कुछ देर फँसा रहेगा और इनसे छूटनेपर ही कहीं वह रसास्वाद कर पायेगा। रसास्वादमें इस प्रकार विलम्ब होनेके कारण ही इनको दोष कहा है। इसी लिए शृंगार, करुण आदि कोमल रसोंमें अधिक अथवा बड़े अलंकारोंका होना अच्छा नहीं समझा जाता—बड़े-बड़े यमक आदि अलंकारोंका होना ठीक नहीं। ऐसे स्थलोंमें तो एक दो बढ़िया हलके अलंकार ही पर्य्याप्त होते हैं। सुन्दर भावमयी शिक्षित रमणीके हाथमें एक अँगूठी ही पर्य्याप्त अलंकार है; बहुत हुआ, तो गलेमें एक हलकासा स्वर्णाभूषण। इसके विपरीत, यदि ऐसी महिला नीचेसे ऊपर तक जेवरोंसे लाद दी जाय, तो अच्छा न होगा। यही बात भावमयी कविताकी है।

"जिनसे भावोंमें उत्कर्ष नहीं आता, उन्हें अलंकार नहीं कह सकते। इसी कारण 'प्रहेलिका' आदि किसी भी दशामें अलंकार नहीं।" यह प्राचीनोंका मत है।

१३ दोष

" अदोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति । "

दोष काव्यका उत्कर्ष बहुत कम कर देते हैं। सब कुछ होने पर भी यदि कवितामें दोष-गन्ध अधिक है, तो उससे उसी प्रकार सहृदयोंकी नाक-भौं चढ़ेगी, जिस प्रकार परम रसायन किन्तु दुर्गन्धयुक्त प्याजसे। एक ही उग्र दोष समस्त कविताको विकृत करनेके लिए पर्य्याप्त होता है।

न केवल कवि ही, किन्तु प्रत्येक लेखकको इन भाषा-दोषोंसे अवगत होना चाहिए। इन दोषोंका ज्ञान होना परमावश्यक है; क्यों कि जबतक हम इन्हें जान न लेंगे, इनका छोड़ना या इनसे बचा रहना असम्भव-सा है। बिना किसीको जाने, उसका संग्रह अथवा त्याग हो नहीं सकता।

इन दोषोंको, साहित्य-शास्त्रमें, मुख्यतः दो भागोंमें विभक्त किया है-१ भाषा-दोष और २ भाव-दोष। भाषा-दोषके भी कई विभाग किये गये हैं-वाक्य-दोष, पद-दोष, पदांश-दोष आदि। जो दोष वाक्य मात्र-वृत्ति होता है अथवा जिसका सम्बन्ध वाक्यके कई पदोंसे होता है, उसे वाक्य-दोष कहते हैं। जो दोष पदविशेष-निष्ठ होता है, उसे पद-दोष कहते है और पदके एक देशमें जिसकी वृत्ति होती है, उसे पदांश-दोष कहते हैं। परन्तु, पद-दोष और पदांश-दोषसे भी समस्त वाक्य दूषित जान पड़ता है, यद्यपि उनकी सत्ता अंश-विशेषमें ही होती है। जब आपके शरीरमें कहीं कोई फोड़ा हो जाता है, तो समस्त शरीर व्याकुल रहता है: यह नहीं कि जिस अंगमें वह है, वही क्लिष्ट रहे। हाँ, जिस अंगमें वह फोड़ा होगा, उसमें अधिक

बेचैनी रहेगी और पूछनेपर वह उसी अंगका फोड़ा कहा भी जायगा; जैसे हाथका फोड़ा, पाँवका फोड़ा आदि। इसी प्रकार काव्य-दोषोंकी व्यवस्था है।

भाव-दोषोंको ही रस-दोष कहते हैं। किस शब्दका कहाँ कैसा प्रयोग करनेसे भाव भ्रष्ट हो जाता है, ये सब बातें भाव-दोषोंके ज्ञानसे मालूम होती हैं। किसी-किसी साहित्य-ग्रन्थमें अलंकार-दोष अलग बतलाये हैं; किन्तु इनका अलग अस्तित्व युक्ति-संगत नहीं—इनका अन्तर्भाव उपर्य्युक्त भाषा तथा भाव-सम्बन्धी दोषोंमें हो जाता है; क्योंकि भाषा तथा भावसे अतिरिक्त और कोई चीज अलंकार नहीं है। भाषा और भावके प्रयोग-वैशिष्ट्यका नाम ही अलंकार है। अतएव अलंकार-दोषोंकी पृथक् सत्ता नहीं है।

हमने कहा कि कविको विशेषतः और सभी लेखकों तथा ग्रन्थकारोंको सामान्यतः दोषोंसे परिचित होना जरूरी है। दोषोंका परित्याग किये बिना रचना ठीक बन नहीं सकती—वाक्य-प्रयोग ही दुरुस्त न होगा। जब बोलना ही न आया, तो फिर और क्या आयेगा? यही तो कारण है कि साहित्य शास्त्रको सूक्ष्म-व्याकरण कहते हैं। व्याकरणमें पद-सम्बन्धी विचार होता है और साहित्य-शास्त्रमें वाक्य तथा उसके गठनपर। निर्दोष और परिष्कृत वाक्य बोलनेकी कौन तारीफ नहीं करता? स्वयं श्रुति कहती है:— "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।" अर्थात् एक भी शब्द यदि अच्छी तरह जानकर अच्छी तरह ही प्रयुक्त किया जाय, तो प्रयोक्ताके लिए वह शब्द स्वर्ग-लोकमें कामधेनु बनकर इच्छित फल देता है।

अथवा जिसे अच्छी तरह बोलना आता है, उसके लिये यही लोक स्वर्ग बन जाता है और उसका शब्द ही कामधेनुके समान सब कुछ देता है। प्रत्यक्ष बात है, देख लीजिए। एक मामूली आदमी भी अपने शब्द-प्रयोगके सौष्ठवके कारण ही बढ़ते-बढ़ते देशका राष्ट्र-पति बन जाता है। सम्राट्के बड़े-बड़े मंत्रियोंमें क्या विशेषता होती है कि वे उस महत् पदके उपभोक्ता बन जाते हैं? यही शब्दके सुप्रयोगकी महिमा। अच्छा, तो देखिए कि यह शब्द-प्रयोगका सौष्ठव कौन सिखाता है? साहित्य शास्त्र। ऊपर जो श्रुति हमने उद्धृत की है, उसमें दो बातोंकी महिमा कही है, दोनों शब्दके विषयमें है; एक तो शब्दका 'सम्यक् ज्ञान' और दूसरी बात, उसका 'सुप्रयोग'। शब्दका 'सम्यक् ज्ञान' व्याकरण-शास्त्रसे होता है और उसका 'सुप्रयोग' साहित्यशास्त्र सिखाता है। कहना न होगा कि किसी भी विषयके लिए ज्ञान और प्रयोग दोनों ही आवश्यक हैं--ज्ञान और कर्म सम-महिम हैं। किन्तु फिर भी प्रयोगकी महिमा बढ़कर है। शब्दोंका सुन्दर प्रयोग करना हमें साहित्य-शास्त्र बतलाता है। शब्दोंके सुन्दर प्रयोगके लिए यह अत्यावश्यक है कि भाषा तथा भाव-सम्बन्धी दोषोंसे अपने प्रबन्धको बचाया जाय। वाक्यको अलंकृत और सगुण बनाना तो फिर-की बात है, पहले उसे निर्दोष बनानेकी ही चेष्टा करनी चाहिए। जिस शरीरमें ही दोष है—गन्दगीके मारे मक्खियाँ जिस पर भिनभिना रही हैं, उसे विविध अलंकारोंसे अलंकृत करनेपर भी क्या लाभ? सहृदयोंका मन उधर जानेका नहीं। इसी प्रकार जो वाक्य, भाषा या भावकी गलतियोंसे-एतत्सम्बन्धी दोषोंसे—बेतरह भरा है, उसमें अलंकार भी अच्छे न लगेंगे। इस लिए काव्य-दोषोंका जानना अत्यावश्यक है।

बड़े खेदकी बात है कि आजकल बहुतसे नवयुवक साहित्य-शास्त्रसे परिचय किये बिना ही काव्यरचना करने बैठ जाते हैं, जिससे उनकी कृतियाँ अत्यन्त दूषित होती हैं। ऐसी दशामें उनकी कोई कद्र नहीं करता, तो वे क्रोधसे तमतमा जाते हैं और कुछका कुछ कहने लगते हैं—आपेसे वे बाहर हो जाते हैं! भला, इसमें दोष किसका है? उनका या काव्य-रसिकोंका? यह हो नहीं सकता कि कोई सुन्दर काव्य सामने आये और काव्य-रसिक उसका आदर न करें! भौंरा कभी सरोजका अनादर नहीं कर सकता; पर सरोज हो तब न! वह तो उसके ऊपर अपना सर्वस्व निछावर करनेको तैयार होगा। वह अपने प्यारे सरोजको स्वयं पहचान भी लेता है। उसे किसीको कसम खाकर बतलानेकी जरूरत नहीं कि "भैया भौंरा! यह सरोज है। इसे तुम क्यों छोड़ते हो।" वह स्वयं पहचान सकता है। जहाँ कवित्व होगा, सहृदय उसपर जान देंगे। कवित्व किसीके छिपाये छिप भी तो नहीं सकता—"न हि कस्तूरीकामोदः शपथेन विभाव्यते।" कस्तूरीकी सुगन्धको कौन रोक सकता है? परन्तु यदि कोई कोयलेको ही कस्तूरी कहने लग जाय, तो यह कैसे हो सकता है कि लोग उसकी बात झट मान लें?

बहुतसी कविताएँ क्यों सदोष और नीरस होती हैं? क्यों कि उनके रचयिता साहित्य-शास्त्रीय विषयोंसे अनभिज्ञ होते हैं। जिनको अपनी कृति अच्छी बनानी हो, वे साहित्य-शास्त्रका, विशेषतः काव्य-दोषोंका, ज्ञान सम्पादित करें।

१४—काव्य—भाषा

काव्य किस भाषामें होना चाहिए, अथवा काव्य किस भाषा-में हो सकता है, यह प्रश्न ठीक ऐसा ही है, जैसा कि 'मानवीय गुण किस शरीरमें हो सकते हैं और किसमें नहीं ? वस्तुतः यह प्रश्न ही कुछ ऐसा है। काव्य तो प्रत्येक भाषामें बन सकता है; प्रत्येक भाषा काव्य-प्रसव करनेका गौरव पानेकी अधिकारिणी है। प्रत्येक भाषाके द्वारा मनोभाव प्रकट किये जा सकते हैं और उसके शब्दों तथा अर्थोंमें चमत्कार लाया जा सकता है। परन्तु हां, जिस भाषामें जितनी ही अधिक मात्रामें ध्वनन-शक्ति होगी, वह काव्यकी उतनी ही उत्तम भाषा कहलायेगी। एक बात और, कोई भाषा किसी प्रकारके भावोंके द्योतनमें समर्थ होती है और कोई दूसरे प्रकारके। किसी भाषामें कुछ खूबी होती है और किसीमें कुछ। यह भी देखा जाता है कि कोई भाषा स्वभावतः काव्यके योग्य होती है। ऐसी भाषाकी ओर स्वभावतः कवियोंका ध्यान आकृष्ट होता है। परन्तु फिर भी असल बात यही है कि प्रत्येक ध्वनन-शक्ति-सम्पन्न भाषामें काव्य बन सकता है।

हमारी राष्ट्र-भाषाकी कई बोलियाँ हैं, अवधी, बुंदेलखण्डी, ब्रजभाषा इत्यादि। परन्तु, काव्य-सृष्टि प्रायः ब्रजभाषा और अवधीमें ही हुई है। अब सौभाग्यसे खड़ी बोलीमें भी कविता होने लगी है और अच्छी होने लगी है। जो लोग पहले कहते थे कि खड़ी बोलीमें कविता हो ही नहीं सकती, उन्हें ये सुन्दर कविताएँ उचित उत्तर देकर उनके मुख बन्द कर रही हैं। इससे ऊपर लिखे सिद्धान्तकी पुष्टि होती है।

जैसे पहले कुछ लोग खड़ी बोलीको काव्यके अयोग्य ठहरानेका विफल प्रयत्न करते थे, उसी प्रकार आज कल कहीं

कहीं व्रजभाषाका भी विरोध किया जा रहा है। यह भी अनुचित है। व्रजभाषाके विरोधमें जो दलीलें दी जाती हैं, उन्हें देखते चलना कुछ अप्रासंगिक न होगा।

सबसे पहले कहा जाता है कि व्रजभाषा एक प्रादेशिक बोली है, अतएव कोई कारण नहीं कि व्यापक भाषा 'हिन्दी' नामसे पुकारी जाय और प्रदेशान्तरके निवासियोंको यह काव्यकी भाषाके रूपमें ग्राह्य हो। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि व्रजभाषा प्रदेश-विशेषमें बोली जाती है, तथापि इस-से उसकी व्यापकता कुछ कम नहीं हो जाती। हिन्दीकी प्रत्येक बोली किसी न किसी प्रदेशमें बोली जाती है; तो क्या इन सब 'बोलियों' का बहिष्कार होगा? हिन्दीमेंसे तो अवधी बोलीका तुलसी-साहित्य और व्रज-भाषा-साहित्य निकाल लेनेपर मालूम होता है कि प्राण ही निकाल लिए! फिर वहाँ रही क्या जाता है? और, जिस खड़ी बोलीको राष्ट्र-भाषाका मुख्य रूप दिया गया है, वह भी तो प्रदेश-विशेषकी ही 'बोली' है। खड़ी बोली मेरठके आस-पास-की भाषा है; वहीं इसकी उत्पत्ति है और वहीं आजतक अपने इसी असली रूपमें बोली जाती है। तो क्या, प्रादेशि-कताके नामपर इसका भी विरोध होगा? क्या खूब!

वास्तविक बात है यह कि हिन्दीके सभी रूप किसी न किसी प्रदेशमें बोले जाते हैं; क्योंकि यह जीवित भाषा है। इन सब रूपोंका व्यवहार 'हिन्दी' के व्यापक नामसे ही होता है; क्योंकि सब उसीके रूप हैं। हिन्दीकी विभिन्न 'बोलि-यों' की सम्पत्ति राष्ट्र-भाषाकी सम्पत्ति है। इन्हें अलग कर देनेसे उसके पास रह क्या जाता है? 'बंग-भंग' की भाँति यह 'भाषा-भंग' कर कौन सकता है? जिस प्रदेशकी बोलीमें अधिक गुण देखे, उसे ग्रहण कर लिया गया। जिसमें

जैसे गुण हुए, उसे वैसा पद दे दिया गया। यही तो उदारता है। यही तो कारण है कि अबसे सैकड़ों बरस पहले, विना किसी प्रचार—आयोजनके भारत भरके कवियोंने व्रज-भाषाको राष्ट्रकी काव्य-भाषा बनाया, सबने इसमें कविता की, मुसलमान कवियोंने भी इसकी उपासना की और अवधीके सर्वस्व गोस्वामी तुलसीदासजीको भी इसका आश्रय लेना पड़ा। यही नहीं, उर्दू भाषामें भी इस मीठी भाषाका पुट दिया गया। यह सब क्यों हुआ? किसीने कोई प्रचार किया था? नहीं, उसके गुणोंपर मुग्ध होकर सबने उसे स्वीकार किया और ठीक किया। इस लिए अब इस विषयमें अंटसंट बातें कहकर गड़बड़ फैलाना उचित नहीं है।

यह भी कहा जाता है कि व्रज-भाषामें शृंगारके अतिरिक्त और कुछ है नहीं; अतएव इसका त्याग करना चाहिए। कैसी विचित्र बात है! दोष बतलाते हैं साहित्यके और बहिष्कार कराते हैं भाषाका! उक्त दोष साहित्यका कहा जा सकता है, भाषाका नहीं। भाषा और साहित्य एक ही बात नहीं। किसी भी भाषाकी आलोचनामें उसके शब्द-विन्यास, वाक्य-प्रयोग, पदके प्रकृति-प्रत्यय आदिपर विचार किया जाता है; देखा जाता है कि उस भाषाके पदोंमें विविध भावोंके ध्वननकी कैसी शक्ति है। इन्हींके सहारे उसके गुण-दोष बतलाये जाते हैं। यह नहीं, कि उस भाषामें शृंगार अधिक है अतएव वह खराब!

और शृंगार कोई विस्फोटक पदार्थ नहीं है, जिससे इतना घबड़ाया जाय। हाँ, कुत्सित साहित्यसे बचनेकी आवश्यकता अवश्य है; सो, यह तो व्रज-भाषामें ही नहीं, सब भाषाओंमें पाया जाता है। किन्तु, ऐसे साहित्यके साथ उस भाषाका भी त्याग नहीं कर दिया जाता, जिसमें उसकी

रचना हुई हो। सिरमें जुएँ पड़ जानेसे कोई अपना सिर नहीं कटवा डालता !

शृंगारका शुद्ध रूप भी व्रज-भाषामें है। उसमें वीर, शान्त और वात्सल्य-रसकी त्रिवेणी भी बह रही है। क्या यह सब कुछ नहीं ?

कहते हैं, व्रज-भाषामें पद्य ही हैं, गद्य नहीं; अतएव यह ठीक भाषा नहीं। यह भी विचित्र बात है। अजी, हम तो उसे पद्य-भाषा ही मानते हैं, गद्यकी भाषा नहीं। गद्यके लिए जिन गुणोंकी जरूरत है, व्रज-भाषामें वे नहीं, खड़ी बोलीमें हैं, अतः वही उसके योग्य समझी गयी और स्वीकृत की गयी है। न जाने, इसमें क्या आपत्ति है। और यों तो कुछ दिन पहले खड़ी बोलीमें भी गद्य न था। तो क्या इसका विरोध भी योग्य था ? सारांश यह कि सब भाषाओंमें काव्य बन सकते हैं।

१५ शब्द, अर्थ, और शब्दकी शक्तियाँ

साहित्य-शास्त्रका शब्दसे विशेष सम्बन्ध है, अतएव उसमें निर्णय किया गया है कि शब्द और अर्थ कितने प्रकारका होता है और शब्दके अर्थका नियमन करनेवाली शक्ति कौनसी है, तथा उसके कितने भेद हैं। वस्तुतः यह विषय बहुत गम्भीर और बड़े महत्त्वका है। इन विचारोंमें दार्शनिकता है।

साहित्य-शास्त्रमें शब्द तीन प्रकारका बतलाया गया है—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इनके अर्थ भी तीन प्रकारके क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य हैं। इसी प्रकार शब्द-शक्तियाँ

भी क्रमसे अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना हैं। इन सबका स्वरूप जानना बहुत जरूरी है।

हम पहले कह आये हैं कि वही सर्वोत्तम काव्य है, जिसमें किसी मनोभावकी सुन्दर अभिव्यक्ति हो। अभिव्यक्तिको ही व्यंग्य अर्थ कहते हैं, जो सबसे प्रधान है। व्यंग्यका ही नाम ध्वनि है, जिसके विषयमें कहा गया है:—

"अध्वनिपदग्रहपरं मदयति हृदयं न वा न वा श्रवणम्।
कान्यपाभिज्ञसभायां मञ्जीरं केलिवेलायाम्॥"

ध्वनिकी महिमासे समस्त साहित्य-ग्रन्थ भरे पड़े हैं। है भी [illegible]ी महत्त्वका विषय। ध्वनि-व्यंग्य-ही तो काव्यका सर्वस्व है। वाच्य अर्थमें प्रायः वह मजा नहीं जो ध्वनिमें है और, लक्ष्यअर्थ तो व्यंग्यके बिना अधूरा ही है। ध्वनि एकदम हृदयको तृप्त कर देती है। देखिए, यहाँ औत्सुक्य व्यंग्य है:—

नैननिकौं तरसैये कहाँ लौं कहाँ लौं, हीयो बिरहागिमें तैये।
एक घरी कल पैये कहूँ न, कहाँ लगि प्राननिकौं कलपैये।
आवत [illegible]में विचार यही कि सखी, चलि सौति-हुँ-के घर जैये
मान घटेंगे कहा घटि है? जो पै प्रान-पियारेकौं देख न पैये।

कैसा चमत्कार है? औत्सुक्यका चित्र खिंच गया है! यदि यहाँ औत्सुक्य इस प्रकार व्यंग्य न होकर वाच्य होता—सीधे कह दिया जाता कि 'वह अपने पतिके दर्शनके लिए बहुत उत्सुक हो गयी'—तो क्या कुछ चमत्कार रह जाता?

व्यंग्य अर्थ शब्दसे भी निकलता है और अर्थसे भी। शब्दमें भी वाक्य, पद और पदांश आदि विविध रूपसे

इसका प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार वाच्य और लक्ष्य–दोनों अर्थोंसे इसका प्रकाश होता है।

शब्द और अर्थमें अच्छेद्य सम्बन्ध होता है। जो कानसे सुनायी पड़े, वह सब शब्द ही है। जिस शब्दका कुछ अर्थ हो, उसे सार्थक शब्द कहते हैं। इसीका विचार व्याकरण और साहित्य-शास्त्रमें होता है। 'दवात' एक शब्द है; क्योंकि कानसे सुनाई देता है। इसका अर्थ वह (वस्तु) है, जो काच, पत्थर या मिट्टी आदिकी बनी होती है और जिसमें स्याही भरी जाती है। इसी प्रकार 'पुस्तक' एक शब्द है, जिसका अर्थ छपे या लिखे हुए कागजोंका सिलसिलेवार संग्रह है। 'पुस्तक' का अर्थ 'किताब' या 'ग्रन्थ' नहीं है। ये तो समानार्थक या पर्य्याय-शब्द हैं। 'पुस्तक' भी एक शब्द है, और 'किताब' भी। पर, ये दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, जिसका निर्देश हमने ऊपर किया है। जितने भी सार्थक शब्द हैं, जिनके वे वाचक हैं, उन्हें 'वाच्य' कहते हैं। पदोंके जो वाच्य होते हैं, उन्हें 'अर्थ' भी कहते हैं और 'पदार्थ' भी। कारण वे 'पदोंके अर्थ' हैं। 'अर्थ' और 'पदार्थ' एक ही बात है। 'सिंह' एक शब्द है। इस शब्दका अर्थ क्या है? 'शेर'? नहीं। 'शेर' तो 'सिंह' शब्दका पर्य्याय या समानार्थक शब्द है—ये दोनों शब्द हैं, जिनका अर्थ एक ही है। कौनसा अर्थ? इन दोनों शब्दोंका अर्थ या वाच्य वह जंगली पशु है, जिसे पशुओंका राजा कहते हैं, जो वनमें रहता है, जिससे सब पशु डरते हैं, और जिसमें सबसे अधिक पराक्रम और साहस होता है। तो यह वन्य पशु 'सिंह' शब्दका वाच्य अर्थ हुआ। जिस शब्दका जो मुख्य अर्थ होता है, वही 'वाच्य' कहलाता है।

अच्छा, अब हमने कहा:—"छत्रपति शिवाजी सिंह थे।"

यहाँ 'सिंह' शब्दका प्रयोग 'शिवाजी' के लिए किया गया है। परन्तु 'सिंह' शब्दका वाच्य अर्थ तो वह पशु है। 'शिवाजी' इस शब्दके वाच्य नहीं। 'शिवाजी' शब्द तो एक विक्रान्त आर्य-सम्राट्का वाचक है। इस शब्दका वाच्य वह वीर पुरुष है, जिसने औरंगजेबके दाँत खट्टे करके स्वराज्य स्थापित किया था। इस प्रकार 'सिंह' और 'शिवाजी' शब्द पृथक् पृथक् अर्थोंके वाचक हैं। तब फिर उस वाक्यमें 'सिंह' पदका मुख्य अर्थ बाधित हुआ—ठीक नहीं बैठा। इस दशामें 'सिंह' शब्दका लक्ष्य अर्थ शिवाजी हैं। लक्ष्य अर्थ तभी लिया जाता है, जब मुख्य अर्थका बाध हो; कोई ऐसा साधारण धर्म्म हो, जो वाच्य और लक्ष्य इन दोनों अर्थोंमें विद्यमान हो; और इसके साथ ही कुछ न कुछ प्रयोजन भी अवश्य हो। ऊपरके वाक्यमें ये सब बातें समझिए। यहाँ मुख्य (वाच्य) अर्थका बाध है ही; क्योंकि शिवाजी वह पशु नहीं हैं। सिंह और शिवाजीमें बराबर रहनेवाला धर्म्म है—साहस-पराक्रम आदि। इसी लिए सिंह शब्दका लक्ष्य अर्थ है 'शिवाजी'। शिवाजीमें अत्यन्त साहस—पराक्रमका होना प्रयोजन है, जो व्यंग्य अर्थ है। ऐसे अवसरपर प्रयोजन सदा व्यंग्य होता है। इस प्रकार यहाँ तीनों अर्थ स्पष्ट हैं। कहीं प्रयोजनके विना भी, रूढ़िके कारण लक्ष्य अर्थ लिया जाता है; परन्तु, मुख्यार्थका बाध सब जगह अपेक्षित है।

१६—उपसंहार

काव्यके विषयमें यहाँ तक कुछ विचार प्रकट किये गये; अथवा सुन्दर वाक्य बोलनेके ढँगपर विचार किया गया। अब इस अन्तिम प्रकरणमें उसीके सम्बन्धमें दो-चार आव-

श्यक बातें और कहनी है। संक्षेपसे इन्हें कहकर हम अपना यह निबन्ध पूरा कर देंगे।

कविताका हेतु

कविताका हेतु क्या है ? किन बातोंके होनेपर कविता हो सकती है ? अर्थात् काव्यका मुख्य हेतुत्व किसमें है, इस विषयपर भी विचार करना अत्यावश्यक है। दुनियामें सभी जन कवि नहीं हो जाते। कोई विरला ही इस महनीय पदको प्राप्त करता है। यह क्यों ? सभी क्यों नहीं कवि बन जाते ? ऐसी कौनसी बात है, जिसके अस्तित्वमे कोई कवि बन जाता है और जिसके न रहनेसे ब्रह्मा भी कवि नहीं बन सकते, मनुष्यकी तो गिनती ही क्या है ? यह कोई नया प्रश्न नहीं, बहुत पुराना है और बिलकुल स्वाभाविक है। इसका उत्तर भी साहित्यके परमाचार्य्योंने दिया है। उन्होंने कहा है:—

" शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। "

अर्थात् शक्ति, निपुणता और अभ्यास, ये तीनों मिलकर काव्योत्पत्तिमें हेतु हैं—एक एक पृथक्-पृथक् नहीं। इसी लिए संस्कृत वाक्यमें एक वचन ' हेतुः ' आया है, बहुवचन ' हेतवः ' नहीं। तात्पर्य्य यह कि काव्य-रचनाके लिए इन तीनोंकी जरूरत है। इनमेंसे ' शक्ति ' तो उस कविताके बीजको ही कहते हैं, जिसके विना काव्याङ्कुर निकल ही नहीं सकता, और यदि निकला भी, तो किसी कामकाज न होगा। निपुणता कहते हैं, विविध व्युत्पत्तिको—अनेक प्रकारके ज्ञान या चतुराईको, जिसकी उत्पत्ति लोक-निरीक्षण, शास्त्राध्ययन और काव्य-मननसे होती है। इन दोनों बातोंके

होते हुए भी यदि कविता करनेका अभ्यास ही न किया जाय, तो भी कुछ नहीं बननेका। अतएव किसी काव्य-मर्मज्ञकी शिक्षाके अनुसार सतत काव्य-रचनाका अभ्यास परमावश्यक है। इसके विना भी कोई उत्तम कवि नहीं बन सकता।

१—शक्ति

जिस पुरुषमें कवित्व-बीजरूप शक्ति न होगी, वह कभी कवि न बन सकेगा, चाहे फिर वह कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो। इसका दर्जा सबसे ऊँचा है। शक्तिको ही 'प्रतिभा' भी कहते हैं। यह शक्ति किसीमें तो सहज (जन्मजात) होती है और किसीमें आहार्य्या या उत्पाद्या। इन दोनोंमें प्रथम श्रेष्ठ है। सहज शक्तिका कहना ही क्या है! जिस कविमें यह सहज शक्ति होती है, उसे ही 'प्रकृत कवि' कहते हैं। अवश्य ही अनेक जन्मोंके सतत अभ्यासका फल ही यह शक्ति होती है—'अनेकजन्म-संसिद्धिः।' इस 'अनेकजन्म-संसिद्ध' शक्तिका मुकाबला वह बाल शक्ति कैसे कर सकती है, जिसका जन्म इसी जन्ममें हुआ है—जो पैदा की गयी है। परन्तु, यह आहार्य्य शक्ति भी हर कोई पैदा नहीं कर सकता—यह भी दूरकी कौड़ी है। कहनेका तात्पर्य्य यही कि सहज शक्तिकी अपेक्षा इस आहार्य्य या उत्पाद्याका दर्जा अवश्य ही छोटा है, फिर भी यह कोई सामान्य चीज नहीं है—बहुमूल्य पदार्थ है। इन दोनों शक्तियोंमें जो अन्तर है, इनके द्वारा प्रादुर्भूत काव्योंमें भी वह अन्तर रहेगा।

सो, कविताकी उत्पत्तिमें सबसे अधिक आवश्यकता है शक्तिकी।

२—निपुणता

देखा जाता है कि कितने ही वन्दनीय और स्पृहणीय पुरुषोंमें कवित्व-शक्ति विद्यमान थी, या है; किन्तु उनकी कविताने अपना स्थान नहीं प्राप्त कर पाया। हिन्दी-कवियोंको देखिए—शिवसिंहसरोज या मिश्रबन्धु-विनोद पढ़िए—कितने ही कवि आपको ऐसे मिलेंगे, जिनमें कवित्व-शक्ति देख पड़ती है; किन्तु बाह्य साधन—लोक-यात्रा, शास्त्राभ्यास और विविध सत्काव्योंके मनन आदिके न होनेके कारण उनकी वह कविता चमक न सकी। शक्ति होनेपर भी इन साधनोंकी जरूरत है। इनके बिना कवितामें वह रंग ही नहीं आनेका। जिसमें सहज शक्ति है, उसे भी इन ऊपरी साधनोंकी जरूरत है।

कोई कोई कहा करते हैं 'जिसमें सहज-शक्ति विद्यमान है, उसे और किसी साधनकी जरूरत नहीं। कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते।' ठीक है, कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते—प्रकृत कवि पैदा ही होते हैं; हाँ, दूसरे दर्जेके कवि बनाये भी जाते हैं। परन्तु स्वयं पैदा होनेवाले 'प्रकृत' कवियोंकी भी ऊपरी साधनोंको उतनी ही जरूरत है, जितनी अन्यको। हीरा पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; परन्तु तब तक उसमें मोहक दमक नहीं आती, जो हीराकी जान है, जब तक उसका संस्कार नहीं हो लेता—वह शाणोल्लिखित नहीं हो लेता। इसी प्रकार जिस कविमें स्वाभाविक शक्ति है, उसे भी अनेक प्रकारके लौकिक व्यवहार, विविध कलाओंका अनुभव तथा शास्त्रों और काव्योंका परिशीलन जरूरी है। इससे उसकी वह सहज प्रतिभा संस्कृत होकर चमक उठेगी। इसके विपरीत जानेमें बड़ा घाटा है। जब

प्रकृत कविके लिए भी इसकी इतनी जरूरत है, तो दूसरेके लिए तो कहना ही क्या है! उसका तो परमाधार ही यह है।

अतएव कविको चाहिए वह खूब देश-भ्रमण करे,—सब जगहके रीति-रिवाजों और चाल-चलनको देखे। उसे वन-पर्वत, नदी-नाला और कूप-तडाग आदिका अच्छी तरह निरीक्षण करना चाहिए। प्रकृति-निरीक्षण कविका मुख्य काम है। उसे विविध कलाओंसे परिचय प्राप्त करना चाहिए। अधिकसे अधिक भाषाएँ और शास्त्र कविको जानने चाहिएँ। सबसे अधिक उसे साहित्य-शास्त्र तथा सत्काव्योंके अध्ययनमें तत्पर होना चाहिए। जितनी ही अधिक जानकारी होगी, काव्य उतना ही अच्छा बनेगा।

३—अभ्यास

ऊपर दो बातें बतलायी गयी हैं, तीसरी है अभ्यासरुचि। जिस पुरुषमें शक्ति भी है और व्युत्पत्ति भी, किन्तु वह उनका उपयोग नहीं करता, उनके सहारे काव्य बनानेका अभ्यास नहीं करता, तो वह कभी भी उत्तम कवि न बन सकेगा। अभ्यासके विना क्या हो सकता है? उसके पास शक्ति और व्युत्पत्ति है, बनी रहे; उससे कुछ भी काम नहीं निकलनेका, जब तक अभ्यास न किया जाय। और, अभ्यास भी किसी सुकवि या काव्यमर्मज्ञ गुरुके बतलाये ढँगपर ही करना चाहिए; अन्यथा सिद्धि शीघ्र न होगी और सन्देह भी रहेगा। कारण, मार्ग बतलानेवाला न होनेके कारण उद्दिष्ट स्थानपर पहुँचनेमें सन्देह ही रहता है, भले ही कितनी भी चलनेकी शक्ति क्यों न हो। बिना किसी उस्तादके यह कौन बतलायेगा कि इस कवितामें यह त्रुटि रह गयी है, इसे यों दूर करना चाहिए? और इस प्रकारके उपदेशके विना कैसे कोई कवि अपनी कविताकी त्रुटियाँ

दूर कर सकेगा ? अपनी त्रुटियाँ किसीको देख नहीं पड़तीं। सबको अपनी कृति निर्दोष जान पड़ती है-" निज कवित्त केहि लाग न नीका-सरस होइ अथवा अति फीका। " ऐसी दशामें, अभ्यासके समय एक उस्तादकी नितान्त आवश्यकता है, जो ठीक ठीक मार्ग बतलावे। इसीलिए आचार्य्य मम्मटने कहा है:—" काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यासः। "

मतलब यह कि कविताके प्रादुर्भावमें उपर्य्युक्त तीनों समुदित हेतु हैं। इनमेंसे एकके भी अभावमें उत्तम कविता न हो सकेगी। अतएव घबड़ाहटको छोड़कर सावधानीसे सब अंगोंका सम्पादन करना चाहिए। एक दिनमें कोई 'महाकवि' नहीं बन जाता। काव्य एक कला है। इसके विधिवत् सीखने और धीरे धीरे अभ्यास करनेकी जरूरत है। महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए और उसकी सिद्धिके लिए यत्नमें लगा रहना चाहिए; किन्तु उतावलापन ठीक नहीं:- " कारज धीरे होत हैं, काहे होत अधीर। समय पाय तरुवर फरै, केतक सींचो नीर। " जिसे कवि बनना है, वह क्रमसे चलकर अभ्यास करेगा।

अभ्यासका समय आदि

यों तो काव्याभ्यासके लिए सभी समय हैं; किन्तु उषःकाल इसके लिए सबसे उत्तम है। रातके चौथे भागको उषःकाल कहते हैं। कवि अथवा काव्याभ्यासीको इसी समय उठकर और शौचादिसे निवृत्त होकर काव्य-रचना करनी चाहिए। इस समय मस्तिष्क ताजा रहता है और उसमें विविध विचार तथा कल्पनाएँ प्रादुर्भूत हुआ करती हैं। अतएव कविता करनेका सबसे उत्तम समय यही है। यों जब भी अवसर मिले, अभ्यास किया जा सकता है।

है। हँसनेमें दाँतोंकी शुक्लताका आविर्भाव ही हँसीके वैसे रंगके वर्णनमें हेतु है।

२–क्रोधका लाल रंग–

इसी प्रकार क्रोधका रंग लाल वर्णन किया जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका भी रंग लाल लोक या शास्त्रसे सिद्ध नहीं है। इसी लिए यह 'कवि-समय' है। कारण यह है कि क्रोध खून-खराबीका कारण है—रक्त-पातका हेतु है और खून लाल रंगका होता है; अतएव उसके हेतु–क्रोध–में भी उसी रंगकी कल्पना करके वर्णन किया जाता है। यही क्यों, क्रोधके आवेशमें मुख भी तो लाल पड़ जाता है, आँखें भी लाल हो जाती हैं—सब कुछ लाल। इसी लिए क्रोधका रंग कवि-जन लाल वर्णन करते हैं और करना चाहिए। यही कवि-समय है।

३–शुक्ल पक्षमें ही चाँदनीका वर्णन–

चाँदकी चाँदनी दोनों पक्षोंमें बराबर रहती है, तो भी कवि इसका वर्णन शुक्ल-पक्षमें ही करते हैं, कृष्णपक्षमें नहीं। कारण यह है कि यद्यपि दोनों पक्षोंमें चाँदनी होती है; पर शुक्ल-पक्षमें रात्रिके पूर्व भागमें होनेके कारण लोगोंके विशेष अनुभवमें आती है और अच्छी लगती है। यही कारण है कि इसी पक्षमें इसका वर्णन किया जाता है।

४–बरसातमें ही मयूरोंका वर्णन–

यद्यपि मयूर सब ऋतुओंमें रहते बोलते और प्रायः नाचते भी हैं; परन्तु बरसातमें ही इनके आनन्दपूर्वक बोलने और नाचने आदिका वर्णन होता है। अन्य ऋतुओंमें मयूर इतना आनन्दित नहीं होता, अतएव उसका नाच–बोल फीका रहता है। लोगोंका ध्यान भी उधर आकृष्ट नहीं होता।

परन्तु बरसातमें वह परम आनन्दोच्छ्वासमें आकर कूकता और नाचता है, जो सबको अधिक सुहावना लगता है। गम्भीर गर्जनके साथ जब मेघ रिमझिम रिमझिम बरसते हैं, तो मोर केका वाणीसे उसका स्वागत कर आनन्दके मारे नाचने लगता है। इस समयके आनन्दको सहृदय दूसरी ऋतुसे तुलना करके देख लें। स्पष्ट मालूम हो जायगा। इसी लिए केवल बरसातमें ही मयूरोंका वर्णन कवि समय-प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार वसन्तमें कोयलका वर्णन समझिए।

उदाहरणके तौरपर ये तीन चार 'समय' बतलाये। इसी प्रकार और समझ लेने चाहिए। विविध उत्तम काव्योंको पढ़ते पढ़ते इनका ज्ञान स्वयं हो जाता है।

समालोचन

कविमें समालोचन-शक्ति भी अवश्य होनी चाहिए। इसके अभावमें वह नीर-क्षीर-विवेक न कर सकेगा, जो उसके लिए परमावश्यक है। कवि बननेका इच्छुक अनेक काव्योंको पढ़ेगा। उनमें कुछ सत्काव्य होंगे और कुछ असत्। किसी काव्यमें कहीं उपादेय सामग्री मिलेगी और कहीं हेय। ऐसी दशामें वह क्या करेगा, जिसके पास समालोचन-शक्ति नहीं? कविके लिए गुण-दोपका विवरण बहुत जरूरी है; क्योंकि सब जगहसे—"सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार।" यह शक्ति जिसके पास न होगी, उसे बड़ी असुविधा रहेगी और वह कभी भी उत्तम काव्य न बना सकेगा। कविको सहृदय समालोचक होना चाहिए। उसे चाहिए कि उत्कृष्ट काव्यों और उनके रचयिताओंका आदर करे—उनसे कुछ सीखे और असत् कवि तथा उनके काव्योंपर

उदासीन-दृष्टि रखे। सतत सत्काव्याभ्याससे ही कवित्व आता है।

शब्द-सञ्चय

ऊपर जिन बातोंकी ओर इशारा किया गया है, उनकी अनिवार्य्य आवश्यकता तो है ही; किन्तु सबसे पहले शब्द-सञ्चय करना चाहिए। इसके विना तो कुछ भी नहीं। जिस कविके पास परिमित—अति न्यून—शब्द हैं, वह अपने सुन्दर भावोंके अभिव्यञ्जनमें सफल नहीं हो सकता। अतएव विविध सुन्दर सत्काव्योंसे शब्द-रत्नोंका सञ्चय करना चाहिए, जिससे कि समयपर वे काम आवें—मुंह फैलाए बैठा न रहना पड़े।

सद्भावना

सबसे अधिक महत्त्वकी जो बात कविके लिए आवश्यक है, वह है सद्भावना। इसके बिना कोई भी कवि उतने महत्त्वका काव्य न बना सकेगा, चाहे उसमें कैसी भी प्रतिभा क्यों न हो। इसलिए कविमें सद्भावनाकी बड़ी जरूरत है। हम नहीं कहते कि कवि कोई उपदेशक है। पर यही कहना है कि जो कुछ भी वह कहे या करे, उसके मूलमें सद्भावना जरूर रहे; अन्यथा उसका काव्य 'विष-रस-भरा कनक घट जैसे' अनुपादेय हो जायगा और यों वह अपने परिश्रमका फल न पायेगा।

स्वातन्त्र्य

प्रायः सभी साहित्यिकोंके लिए स्वातन्त्र्यकी जरूरत है, विशेषतः इतिहासकार और कविके लिए। इन दोनोंमें भी कविको अधिक स्वातन्त्र्य चाहिए। इसके बिना प्रतिभा

उन्मिषित न होगी और न उसका उचित उपयोग ही होगा। भला, ऐसी दशामें कब उत्तम कृति हो सकती है? और ऐसी प्रतिभाको भी धिक्कार है, जिसके अस्तित्वमें भी पारतन्त्र्य रहे। कैसी मनोहर सूक्ति है—

विद्यावतां दातरि दीनता चेत्, किं भारती-वैभव-विभ्रमेण।
दैन्यं यदि प्रेयसि सुन्दरीणां, धिक् पौरुषं तत् कुसुमायुधस्य।

कहनेका तात्पर्य्य यही कि जहाँ तक हो सके, कवि स्वतन्त्र रहे। यदि परिस्थिति-वश उसे जीवन-निर्वाहार्थ किसीका आश्रय भी ग्रहण करना पड़े, तो विचार-स्वातन्त्र्य अवश्य रखे और जहाँ तक हो सके, अपने आश्रयके चुननेमें भी सद्भावनासे काम ले। यदि कोई उत्कृष्ट कवि किसी नीच प्रवृत्तिके पुरुषके आश्रयमें आ जायगा, तो बहुत सम्भव है कि उसकी प्रतिभा और तज्जनित कविता दूषित हो जाय। इस लिए इस विषयमें सदा सतर्क रहना चाहिए। प्रतिभाके साथ स्वातन्त्र्यका मेल सोनेमें सुगन्ध है। कमसे कम विचार-स्वातन्त्र्य तो अवश्य ही रहे।

बस, अब हम यहीं इन शब्दोंके साथ अपने इस निबन्धको समाप्त करते हैः—

"याता यान्ति च यातारो लोका शोकाधिका भुवि।
काव्य-सम्बन्धिनी कीर्तिः स्थायिनी निरपायिनी।"

हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर सीरीज
इस ग्रंथमालामें अबतक विविध विषयोंके
.८० से ऊपर ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं,
जिनकी बड़े बड़े विद्वानोंने प्रशंसा की है।
एक कार्ड लिखकर सूचीपत्र मंगा लीजिए।